ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०



प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस



प्रथम संस्करण
१९५७ ई०
मूल्य चार रुपया



मुद्रक
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

# कौन कहाँ ?

# यह क्या पढ़ रहे हैं आप ?

एक बार मैं गांधीजीके निकट बैठा था और बातचीत प्रार्थनापर चल रही थी। वे बोले—प्रार्थनाका एक चमत्कार यह है कि हमारे सामने जब विकट समस्याएं होती हैं और हमारी शक्तियां उन्हें सुलझानेमें असमर्थ हो जाती हैं, हम सच्चे भावसे प्रार्थना करें, तो परिस्थितियोंमें बिना किसी प्रयत्नके ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि वे समस्याएं आप ही आप सुलझ जाती हैं।

मैंने नम्रतासे पूछा—बापू, बिना किसी प्रयत्नके इस परिवर्तनका कारण क्या है?

बापूने कहा—यह बात एक और एक दोकी भाषामें नहीं कही जा सकती, पर सत्य है। अपनी भाषामें मैं इसे ईश्वरकी कृपा मानता हूं, पर मनोवैज्ञानिक रूपमें भी इसपर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण परमहंसके निकट गये, तो नास्तिक थे, पर लौटे, तो आस्तिक होकर।

मैं अनेक बार [illegible] भागोंमें [illegible] स्थानोंपर गया हूं और वहांसे उत्फुल्ल होकर लौटा हूं।

यह सब क्या है?

यह सब शुभ संस्कारोंका [illegible] है।

उत्तर नम्रतासे यह। मैं कहना चाहता हूं कि इन स्थानोंमें वहां शुभ संस्कार हैं, जो [illegible] शान्ति, [illegible] और [illegible] भावोंके [illegible] मनको बिना किसी प्रयत्नके यों बदल देते हैं कि जीवन [illegible] आनन्दपूर्ण हो जाता है।

## बाजे पायलियाके घुंघरू

एक ही बात हमें दो आदमी कहते हैं, पर एककी बातका हमपर कोई असर नहीं होता और दूसरेकी बातका हमें तुरन्त विश्वास हो जाता है। यह क्यों ?

यह इसलिए कि एक कहता है बुद्धिसे और दूसरा हृदयसे। बुद्धि है अविश्वासी, अनिश्चयात्मक और तार्किक, इसलिए बुद्धिकी बात बुद्धिमें नहीं उतरती, देरमें उतरती है और उतरकर भी यों नहीं पचती कि रस बनकर जीवनको सौन्दर्य दे, पर हृदय है विश्वासी और सरल, इसलिए हृदयकी बात हृदयमें झट उतर जाती है और यों पच जाती है कि रस बनकर जीवनको सौन्दर्य दे।

इन लेखोंमें न बुद्धिके गोरखधन्धे हैं, न सूखे ज्ञानके अम्बार, सरल हृदयकी जिज्ञासाएँ हैं, चिन्तन हैं, अध्ययन हैं, प्रयत्न हैं, समाधान हैं, सफलताएँ हैं, अनुभव हैं।

इसीलिए वे पाठकको बहसमें निरुत्तर नहीं करते, मनमें शान्त करते हैं, उसके ज्ञानको झकझोरते नहीं, जीवनको बदलते हैं और यह सब भी दण्ड या कड़ाईसे नहीं, मिठाससे मित्रकी तरह—सच तो यों कि पता नहीं चलता और जीवनमें परिवर्तन हो जाता है, वह ऊँचा उठ जाता है, जीवनकी पायलियाके घुंघरू बज उठते हैं, उसमें सात्त्विक आनन्द भर जाता है।

बस यही ये लेख इस तरहके दूसरे लेखोंसे भिन्न हैं।

इसी शृंखलाके कुछ लेख 'जिन्दगी मुसकराई' में छपे थे और कुछ ये हैं। इनमें मेरी चौथाई शताब्दीकी जीवन-साधना है और यह मेरा अभिमान नहीं, सन्तोष है कि देशकी उठ-उभरती पीढ़ियोंको मैं यह उपहार दे सका।

विकास, सहारनपुर • कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'



# उग-उभरती पीढ़ियोंके हाथोंमें

मैं गांधी-जवाहरलालकी जिस पीढ़ीमें जन्मा, पला, बड़ा हुआ और जिया, वह भारतकी स्वतन्त्रताके सिपाहियोंकी पीढ़ी थी।

उस पीढ़ीकी जवानी लाठी-चार्जोंकी धमाधम, गोलीकाण्डोंकी धायें-धायें और हथकड़ी-बेड़ियोंकी झनाझनमें बीती और बुढ़ापा बीत रहा है भावी पीढ़ियोंके लिए सुख-साधन सँजानेमें।

क्या ये दो भिन्न-भिन्न राग हैं?

ना, मैं नहीं मानता यह। ये दोनों राग एक ही जीवनकी परिपूर्णताके तन्त्र-मन्त्र हैं। पर मैं मानता हूँ कि सामाजिक वैभवकी परिपूर्णता होने भी जीवनकी परिपूर्णता अपूर्ण है, यदि मानसिक परिपूर्णता न हो।

मेरा विश्वास है कि उग-उभरती पीढ़ियोंकी मानसिक पूर्णताके लिए ये मेरे अमोल रसायन हैं तो आज पूरे जीवनकी यह कमाई मैं अपनी उग-उभरती पीढ़ियोंके हाथों आनन्द और शुभ कामनाओंके साथ समर्पित करता हूँ, क्योंकि अपनी मृत्युके बाद मैं उन्हींमें तो जीवनका आनन्द भोगूँगा!

क० ला० 'प्रभाकर'

बाजे पायलियाके घुंघरू

एक ही बात हमें दो आदमी कहते हैं, पर एककी बातका हमपर कोई असर नहीं होता और दूसरेकी बातका हमें तुरन्त विश्वास हो जाता है। यह क्यों?

यह इसलिए कि एक कहता है बुद्धिमें और दूसरा हृदयमें। बुद्धि है अविश्वासी, अनिश्चयात्मक और तार्किक, इसलिए बुद्धिकी बात बुद्धिमें नहीं उतरती, देरमें उतरती है और उतरकर भी यों नहीं पचती कि रस बनकर जीवनको सौन्दर्य दे, पर हृदय है विश्वासी और सरल, इसलिए हृदयकी बात हृदयमें झट उतर जाती है और यों पच जाती है कि रस बनकर जीवनको सौन्दर्य दे।

इन लेखोंमें न बुद्धिके गोरखधन्धे हैं, न सूखे ज्ञानके अम्बार, सरल हृदयकी जिज्ञासाएँ हैं, चिन्तन हैं, अध्ययन हैं, प्रयत्न हैं, समाधान हैं, सफलताएँ हैं, अनुभव हैं।

इसीलिए वे पाठकको बहसमें निरुत्तर नहीं करते, मनमें शान्त करते हैं, उसके ज्ञानको झकझोरते नहीं, जीवनको बदलते हैं और यह सब भी दण्ड या कड़ाईसे नहीं, मिठासमें मित्रकी तरह—सच तो यों कि पता नहीं चलता और जीवनमें परिवर्तन हो जाता है, वह ऊँचा उठ जाता है, जीवनकी पायलियाके घुंघरू बज उठते हैं, उसमें सात्त्विक आनन्द भर जाता है।

बस यही ये लेख इस तरहके दूसरे लेखोंसे भिन्न हैं।

इसी शृंखलाके कुछ लेख 'जिन्दगी मुसकराई'में छपे थे और कुछ ये हैं। इनमें मेरी चौथाई शताब्दीकी जीवन-साधना है और यह मेरा अभिमान नहीं, सन्तोष है कि देशकी उठ-उभरती पीढ़ियोंको मैं यह उपहार दे सका।

विकास, सहारनपुर ◆ कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'



# उग-उभरती पीढ़ियोंके हाथोंमें

मैं गांधी-जवाहरयुगकी जिस पीढ़ीमें जन्मा, पला, बड़ा हुआ और जिया, वह भारतकी स्वतन्त्रताके सिपाहियोंकी पीढ़ी थी।

इस पीढ़ीकी जवानी लाठी चार्जोंकी धमाधम, गोलीकाण्डोंकी धायें-धायें और हथकड़ी-बेड़ियोंकी झनाझनमें बीती और बुढ़ापा बीत रहा है भावी पीढ़ियोंके लिए सुख-साधन संजोनेमें।

क्या ये दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं?

ना, मैं नहीं मानता यह। ये दोनों कार्य एक ही जीवनकी परिपूर्णताके तन्त्र-मन्त्र हैं, पर मैं मानता हूं कि सामाजिक वैभवकी परिपूर्णता होने भी जीवनकी परिपूर्णता अधूरी है, यदि मानसिक परिपूर्णता न हो।

मेरा विश्वास है कि उग-उभरती पीढ़ियोंकी मानसिक पूर्णताके लिए ये लेख अमोल रसायन हैं तो अपने पूरे जीवनकी यह कमाई मैं अपनी उग-उभरती पीढ़ियोंके हाथों आनन्द और शुभ कामनाओंके साथ समर्पित करता हूं, क्योंकि अपनी मृत्युके बाद मैं उन्हींमें तो जीवनका आनंद भोगता।'

क० ला० 'प्रभाकर'



# यह किसका सिनेमा है ?

[ १ ]

लम्बी बीमारीसे उठकर अपने ही नगरकी सड़कपर उस दिन गया, तो लगा जैसे मेरा पुनर्जन्म हुआ है। चारों ओर अजीब-सा लगता था।

रास्तेमें देखा एक नया सिनेमा-घर बन रहा है। जिस मित्रकी मोटरमें घूमने गया था, उनसे ही पूछा—"यह किसका सिनेमा बन रहा है भाई ?"

बोले—"यह रण्डीका सिनेमा है।"

"रण्डीका ?" मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा—"फिर तुमसे अच्छी तो यह रण्डी ही रही कि कमाईसे इतना बड़ा सिनेमा बना लिया। तुम्हारी तो दूकान भी अभीतक किरायेकी है।"

वे भी हँस पड़े, बात पूरी, पर पूरी होकर भी उसने मेरे मनमें जिज्ञासा-सा एक जाल-सा पूर दिया। एक रण्डीने इस नगरमें इतना रुपया कमा लिया कि खा-पीकर वह इतना रुपया जोड़ सकी कि लाख रुपये लगाकर यह बिल्डिंग बना-खड़ी की। कुछ न कुछ तो पास भी बचा रक्खा होगा और १॥ लाख जिसके पास हैं, उसने खाने-पीनेमें भी ३ लाख खर्चे ही होंगे, तो एक रण्डीने ५ लाख रुपये कमाये। इन ५ लाखके पीछे कितने उजड़े और उदास घरोंकी कहानियाँ कलप रही हैं, इसे कौन जान सकता है ? और यह रण्डी, जो स्वयं सबसे बड़ी करुण-कहानी है उस समाज-व्यवस्थाकी !!

[ २ ]

कुछ दिन बाद मैं स्वास्थ्य-सुधारके लिए पहाड़ चला गया। वहाँ एक दिन एक बेंचपर बैठा, मैं सामनेका पहाड़ देख रहा था कि पासमें

बोले—"नही जी, यह तो किसी रण्डीने बनाया है। हम क्या बनायेंगे सिनेमा, गुजर ही मुश्किलसे हो रही है!"

मै लौट आया। अजीब बात है कि भगी और मेम्बर साहब, दोनो कहते है, यह किसी रण्डीका सिनेमा है और वे साहब फर्माते है कि मेरी बीवी यह सिनेमा बना रही है। क्या सारा समाज झूठा है और बस वे ही सच्चे है ?

[ ४ ]

तीसरे दिन अपनी दरख्वास्त लिये वे आ पहुँचे। मै रण्डी और बीबीके झमेलेमे उलझा था—हम बातोमे ढल गये और जो कुछ हाथ आया, यह है—

मा और बेटी। मा ढलती हुई, तो बेटी उभरती हुई, जिसकी उम्र नई, रूप नया, नाम नया, हर बात नई और ये अभी-अभी बापको दफनाकर निमटे एक नौजवान, जिनकी उम्र नई, रूप नया, चाव नये, हर बात नई और बापकी कमाई दौलत पास! वे दोनो वेश्याएँ, यह आजाद रईस। उधर एक महा घाघ, तो दूसरी बछेरी—एकका इशारा, तो दूसरीका उस्तरा और इधर वह अलमस्त छैला, जो पिये गया और दिये गया। बस ५, ७ बरसोमे ही ऐसी हजामत बनी कि पासमे इकन्नी नही, पर दिलमे अरमानोके अभी अम्बार।

इनके लिए वह घडी नजदीक, जब उस्तादजी सारगीके गजसे पीटकर, धकियाते हुए जीनेसे नीचे उतार दे और दरवाजा इतने जोरसे बद करें कि उसके फिर खुलनेकी उम्मीदका तार ही टूट जाये, पर घाघ माके सामने यह सूरजकी तरह साफ कि खूंटा ही बछेरीसे नही, उसकी बछेरी भी खूंटेमें उलझी हुई है।

वेश्या होकर भी वह मा और मा समझदार, जो अपने पेशेके कोढको

पूरी तरह भोग चुकी। उसने दोनोंको टिटकारियाँ दीं, टकोरा-झकोरा, स्याह-सफेद दिखाया और एक दिन मजबूत गांठमें स्वयं बांध दिया। मां एक दिन दुनियासे उठ गई और जन्नत पहुँची, तो जिन्दगीके रजिस्टरमें उसने देखा, इस गांठमें उनके सब गुनाह बँध गये थे!

और ये दोनों? इनके लिए तो अब घर ही स्वर्ग था—इनकी जन्नत आसमानमें नहीं, धरतीपर, इन्हींके आंगनमें थी।

धन इनके पास तब रहा नहीं था, कुछ रूपके भी ये लच्छे न थे, फिर इनमें वह क्या था, जो एक चमकती परीको पत्नी बना पाया? प्रश्न उठा, पर प्रश्न ही रहा और वे उठकर चले गये। मैं सोचता रहा—एक वेश्याने उस पुरुषको अपने जीवनकी बागडोर पकड़ा दी, जिसके पास कुछ न रहा था, जो उसके ही द्वारा लुट चुका था, क्या यह दया है? या यह आत्म-समर्पण है, पुरुषके सर्वस्व समर्पणके बदलेमें किया गया, नारीका आत्म-समर्पण?

[ ४ ]

सिनेमा बन गया और उसमें तस्वीरें दिखाई जाने लगीं। एक दिन परिवार सहित मैं भी निमन्त्रित था। समयपर हम पहुँचे, तो वे ही सज्जन हमें खड़े मिले। बॉक्समें हमें बैठाकर वे चले आये और थोड़ी देरमें एक स्त्रीके साथ लौटे।

परिचयकी भाषा यह थी—"लीजिए, ये भी आगई आपके साथ सिनेमा देखने—इन्होंने ही आपको आज यहां तशरीफ लानेकी दावत भिजवाई थी।" वे उन्हें बैठाकर चले गये। मैंने समझा उन्हें कोई जरूरी काम होगा, पर वे थोड़ी देर बाद आये—पत्नीको गरम चादर साथ थी, हमारे लिए पान। पान हमने खाये। वे बोलीं—मुझे तो अपने ही हाथका पान अच्छा लगता है। सुनते ही वे फिर चले गये और उनके पानोंकी डिबिया उन्हें दे गये।

'इण्टरवैल' परदेपर और वे दरवाज़ेपर, चायवाला साथ। हमने चाय पी, पान खाये। वे उस गरम चादरको पत्नीके कन्धोपर डाल, फिर चले गये और खेल खत्म हुआ कि वे फिर दरवाज़ेपर—पान साथ।

चान्दनेमे दोनोको एक साथ गौरसे देखा। नारीमे सरलता भी है, बडप्पन भी। उसकी मुसकानमें आकर्षण है, जो वेधक न होकर मोहक है। बातचीतमें वे खुली है, पर इस खुलेपनमें कही भी हल्कापन नही, शालीनता ही है। मैंने उन्हें बडी बहन कहा, तो पूरे मनसे ही कहा। पुरुपमे सौम्यता है। वे धीमे बोलते है, पर पूरी मिठासके साथ। उनकी हर बातमे एक सयम है।

वे चले गये, मै अपने प्रश्नोका उत्तर पा गया। एक वेश्या उसके पास जो आता है, वही अपनी बात मनवानेके लिए। ठीक है, वह पैसा फेकता ही इसलिए है कि उसकी हर इच्छाको हाँ सुनाई दे। पैसेकी शक्तिके सामने सिर झुकानेकी शिक्षा वेश्याको दी जाती है, वह सिर झुकाती है, पर उसके हृदयकी प्यास उससे पूछती है—"क्या इस ससारमे ऐसा कोई नही, जो मेरी इच्छाके सामने भी सर झुकाये? अपने सामने मेरी इच्छाको महत्त्व दे?"

इस पुरुपमें यह गुण है कि अपनेको भूलकर, दूसरेका ध्यान रक्खे और यही वह रसायन है, जिसने वेश्याको पत्नी बना दिया।

[ ६ ]

यो मेरे सब प्रश्नोका समाधान हो गया, पर तभी एक नये प्रश्नने मुझे आ घेरा—गिरना आसान है, गिरकर उठना कठिन, यह नारी गिरी, गिरनेकी हदतक गिरी और उठ गई—उठनेके ऊँचे-से-ऊँचे शिखरतक।

एक स्वस्थ दर्शकके मनमे गिरावटके लिए दया और उठावके लिए प्रशसाकी भावना उठनी चाहिए, पर यह क्या बात है कि वेश्याके गृहिणी

बननेपर भी हमारे समाजका एक शिक्षित व्यापारी और अशिक्षित भंगी बरसों बीत जानेपर भी उसके गृहिणीपनको स्वीकार नहीं करता और वेश्या-पनको भूलता नहीं; जब कि वेश्यापन पहला और गृहिणीपन बादका है—पहला पाठ कण्ठ और बादका पाठ धूं-धां, यह कैसी स्मृति है, हमारे समाजकी ?

और तभी याद आगये मुझे उस पहाड़ी बेंचपर बैठे बातें करते वे दोनों परिचित, जिनमें एक बीमा एजेण्ट। बीमा-एजेण्ट, जिसे हमारे देशमें अभी कोई पसंद नहीं करता !

और यहीं मनमें फूट-पनपा एक नया प्रश्न—भला क्यों ?

बीमा-एजेण्ट हमारा बीमा करता है, तो उसमें हमारा ही लाभ है। हमें बुढ़ापेमें इकट्ठा रुपया मिल जाता है, जो वैसे हम जमा न कर पाते। वह हमें बुढ़ापेकी बेफिक्री देता है और मौत बेवक्त आ निकले, तो बाल-बच्चोंको बचाता है। बीमामें हमारा, हमारे परिवारका, हमारे देशका, लाभ ही लाभ है, फिर बीमा करनेवाला हमें क्यों अच्छा नहीं लगता ?

—क्योंकि हमारी आंखें देखती है कि इस बीमामें उसे लाभ है और हमारा दिमाग सोचता है कि वह उस लाभके लिए ही हमारे पास आया है, तो फिर वही वेश्यावाली बात कि उसका गृहिणी बनना हमारे दिल-दिमाग-को नहीं छू पाता और उसका वेश्या रूप ही हमपर छाया रहता है।

लोक-कथामें कहा गया है कि दयासे द्रवित हो, नारद मुनिने कुबड़ी बुढ़ियासे कहा—"आ बुढ़िया, तेरा कूबड़ अच्छा कर दूं।"

बुढ़ियाने कहा—"बाबा, दयालु हुए हो, तो मेरा कूबड़ रहने दो, मेरे पड़ोसियोंकी कमरमें कूबड़ हो जानेका वरदान दो।"

अब बाबा चौंके! बोले—"उनकी कमरमें कूबड़ होनेसे तुझे भला क्या फायदा ? तेरी कमर तो झुकी-की-झुकी ही रही ?"

बुढ़िया तमककर बोली—"अरे बाबा, मैं भी एक बार देख लूं कि ये मुझे किस तरह देखते है।"

यही दोष-दर्शनकी वृत्ति सारे समाजपर छाई है कि हमें अपने लाभ-से ज्यादा दूसरेकी हानिकी और दूसरेके गुणोकी अपेक्षा उसके दोषोकी ही अधिक चिन्ता है। मक्खी नूरजहाँके सुरभित शरीरमें भी चोटकी चेहट ही तो खोजती है?

एक दूसरी लोक-कथामे कहा है— दयालु हो, कीचडमें पडे शूकरसे नारदने कहा—"चल, तुझे स्वर्ग ले चलूं।"

शूकरने कहा—"क्या है तुम्हारे स्वर्गमे बाबा?"

"स्वर्गमे? अरे मूर्ख, स्वर्गमें सब कुछ है। खानेको बत्तीस भोग, छत्तीसो व्यजन, देखनेको नृत्य, सुननेको सगीत, सेवाको अप्सराएँ—क्या नही है हमारे स्वर्गमे? चल, उठ!"

शूकर उठा, पर उठते-उठते उसने पूछा—"महाराज, आपके स्वर्गमें कुरडियाँ और कीचडके गड्ढे भी है या नही?"

बाबा हँसे—"अरे भोदू! स्वर्गमे इनका क्या काम?"

अपनी कीचडमें फिरसे लेटते हुए शूकरने कहा—"फिर वहाँ है ही क्या खाक?"

उस दिन एक विद्वान् पधारे। एक ऐसी सस्थाके कार्यकर्ता, जो राष्ट्रका सास्कृतिक केन्द्र कहलाती है। कुछ दिन पहले मैंने एक ऐसे व्यक्तिपर जीवन-परिचय लिखा था, जो समयकी बात, एक ऊँचे राज-पदपर भी प्रतिष्ठित हैं। उसकी चर्चा चली, तो बोले—"आपके पत्रोको उनसे कुछ लाभ पहुँचता होगा।"

क्या मतलब? यही कि बिना मतलब किसीकी तारीफ कोई क्यो करेगा? मतलबसे भी तारीफ की जाती है, यह सच है, पर हमें सब जगह

और सबसे पहले वही क्यो दिखाई दे ? मैने सोचा—इस सूफार और इस विद्वान्‌मे क्या अतर है ?

लोक-गाथामे इस क्योका उत्तर है। गुरु द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे कहा—"कोई दुर्जन खोज लाओ।" वह सब जगह घूम आया, उसे कहो कोई दुर्जन मिला ही नही।"

उन्होंने दुर्योधनसे कहा—"कोई सज्जन खोज लाओ।" वह सब जगह घूम आया, उसे कोई सज्जन मिला ही नही।

क्या बात हुई यह ? यही बात कि हमे अपना आपा ही सब जगह दिखाई देता है। हममे दोष है, हमे वे सब जगह दिखाई देते है। हम उन्हे ही सब जगह देखते है, इसलिए वे हममे बराबर बढ रहे है। जीवन दोष-गुणोका ताना-बाना है। कौन है जिसमे कमी नही—धोनीके भीतर सब लगे, पर दोष ही दोष दिखाई देना, पहले दोषपर ही दृष्टि जाना, हमारी दृष्टिका भेगापन है।

हम इस दोषसे बचे, दोषोके रहते भी गुणोको परखे, प्यार करे, तो पाये कि स्वय हमारे भी दोष कम हो रहे है—'यो यच्छ्रद्ध स एव स.।' गीता कहती है, जिसकी जिसमे श्रद्धा है, वह वही हो जाता है। हम गुणोको परखे, उनमे श्रद्धा रखे, तो स्वय गुणी होते चले।

# मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप बोतल न रक्खें ?

श्रीमती शान्तिदेवीजी भीतरके कमरेसे बाहर चौकमें आ रही थी कि उनका पैर रास्तेमें रक्खी बोतलसे टकरा गया।

बोतल सरसोंके तेलकी। तेल बिखर गया, नाखूनमें सख्त चोट लगी। झल्लाकर छेदासे बोली—"अरे, तू जहाँ देखता है, वहीं चीज पटक देता है। यह बोतल रखनेकी जगह है? गधा कहींका!"

अवसरपारखी छेदाने अपनी बहूजीका पैर मसला, तेल समेटा और गल्ती मानी। हमारी शान्तिदेवीजी हैं बमभोला शिवशंकर; वे हँस पड़ी और बात आई-गई हुई, पर इसके कोई दस पन्द्रह दिन बाद उसी स्थानपर उसी घटनाने एक नया रूप ले लिया।

छेदा भीतरके कमरेसे बाहर चौकमें आ रहा था कि उसका पैर रास्तेमें रक्खी बोतलसे टकरा गया। पैरमें चोट लगी, तेल बिखर गया, बोतल टूट गई। वह सम्भल ही रहा था कि झल्लाकर शान्तिदेवीजीने कहा—"अरे, आँख फोड़कर नहीं चला जाता तुझसे?"

छेदा चन्ट-चतुर! जानता था कि बोतल आज रास्तेमें बहूजीने रक्खी है, इसलिए शोखीसे मुसकराते, कन-अँखियोंसे देखकर वह बोला—"बहूजी, मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप रास्तेमें बोतल न रक्खें?"

समयकी बात, मैं दोनों दिन वहीं था, इसलिए छेदाके प्रश्नमें जो मीठा-पैना व्यंग था, उसे मैं ले पाया और बहुत ज़ोरसे मेरी हँसी फूट पड़ी। मैंने कहा—"ठीक है, जब छेदा रास्तेमें बोतल रक्खे, तब चीजको गलत रखने-

का सिद्धांत माना जाय और जब वही काम खुद बहूजी करें, तो आँख फोड़कर चलनेका उसूल लागू हो।"

बात हँसीकी थी, हँसीमें घुल-मिल गई, पर मैं देखता हूँ कि हमारे जीवनमें व्यापक रूपसे यह रोग फैला हुआ है कि हम हरेक घटनाको, हरेक प्रश्नको, अपने ही दृष्टिकोणसे देखें। रोग, मैं इसे कुछ मुहावरेके तौरपर नहीं कह रहा हूँ। यह सचमुच एक नैतिक रोग है, जो मनुष्यको मानसिक रूपसे काना बना देता है। काना, जिसकी एक आँख दुर्भाग्यसे फूट गई!

ओह, क्या बात याद आ गई। मेरे एक मित्र थे श्री ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु'। वे एक बार मुझे भी यात्रामें साथ ले गये। जहाँ गये, वहाँ उनके एक यजमान थे। निमन्त्रण था, हम दोनों उनके घर भोजन करने गये। अजीब बात कि श्रीमतीजीकी दाहिनी आँख बंद, तो श्रीमान्‌जीकी बाँई, दोनों काने! मैं सोचता रहा कि दो कमियोंका गठबन्धन कर, यह एक पूर्णताकी रचना की गई है या दो पूर्णताएँ रोगके किसी 'को-आपरेटिव' आक्रमणसे दो अपूर्णताओंमें बदल गई हैं?

भोजन बनता रहा, बातें चलती रहीं। खाने-खातेमें जाने क्या बात हुई कि पति-पत्नीमें बात बढ़ गई और वे आपसमें भिड़ गये। लड़ाई बातों-बातोंकी, पर काफी पैनी। पतिको शायद उनके अहंकारने उभारा कहा—पत्नीकी यह हिम्मत और हिमाकत कि मेहमानोंके सामने तुमने चोंच मिलाये!

वह तमक उठा और तमककर उसने कहा—'देख्या, वो जा रही हैं; कानी कहीं की!"

पत्नीने इस अपमानको पिया-पचाया और तब अपनी अनदेखती आँखको जरा दबाकर, देखती आँखको कुछ कमान-सी तानकर। बोली, ठण्डे मुंहसे कहा—"ओहो, हमने कोई दो माँगता भी न देता!"

बस कुछ न पूछिए कि निशाना कहाँ बैठा। पति महाशय घडो नहा गये और मुझे हँसी रोकना मुश्किल हो गया, तो मै वहाँसे उठ भागा।

आपको भी सुन-पढकर हँसी आये, तो हँस लीजिए, पर वात तो सोचनेकी यह है कि क्या उन दोनोकी तरह हम सब भी काने नही है और हमारा भी वही हाल नही है कि अपनी आँखको भूले दूसरेकी आँखपर निशाना लगाये हुए है ?

अच्छा, यह कानापन क्या है। एक पिताके दो बेटे। खेलमे एक बन गया राम, तो दूसरा रावण, बस होने लगी तीरदाजी। तीर मामूली तिलनूके और धनुप बाँसकी खपच्चीका, पर तीर आखिर तीर! रावणका तीर रामजीकी दाई आँखमें घुस गया और आँख जाती रही—हो गये काने। मतलब यह कि चोटसे या खोटसे, एक आँख वैठ गई और हो गये काने!

यह हुई वाहरी वात, कानेपनकी भीतरी भावना क्या है? एक लोक-कथा है कि माका काना बेटा हरद्वार गया। लौटा तो माने पूछा—"हरद्वारमें तुझे सबसे अच्छा क्या लगा रे?" गाँवके भोले बेटेने तवतक कही वाजार देखा नही था। बोला—"मा, हरद्वारका वाज़ार घूमता है।"

मा हरद्वार हो आई थी। वाजार घूमनेकी वात सुनकर वह घूम गई और चौंककर उसने पूछा—"कैसे घूमता है रे, हरद्वारका वाज़ार?"

वेटेने नये सिरेसे आश्चर्यमे डूवकर कहा—"मा, मै हरकी पैडी नहाने गया, तो वाज़ार उधर था और नहाकर लौटा, तो इधर हो गया।" दुःख पाकर भी मा हँस पडी और उसने वेटेको छातीसे लगा लिया।

दूसरे शब्दोमें कानेका अर्थ है— एकागी, जो प्रश्नको, सत्यको, इकहरा यानी अधूरा देखना है।

## मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप बोतल न रक्खें?

चलती रेल स्टेशनपर आ ठहरी। भीतर डब्बेमें कुछ मुसाफिर, जिनमें एकका नाम 'क' और डब्बेके बाहर दूसरा मुसाफिर, जिसका नाम 'ख'। ख चटखनी खोल भीतर आना चाहता है, पर क उसे कहता है—"अरे भाई, पीछे तमाम गाड़ी खाली पड़ी है, वहाँ क्यों नहीं चले जाते।"

'क' एक सुन्दर नौजवान है, खासकर उसकी दोनों आँखें, तो बहुत ही सुन्दर हैं, पर मानसिक रूपसे वह काना है, क्योंकि मुसाफिरोंकी सुविधाके प्रश्नको वह अधूरे रूपमें ही देखता है, पर क्या हम 'क'की निन्दा करें और 'ख'को अपनी सहानुभूति दें?

यह हो सकता है, पर अगले ही स्टेशन तक, क्योंकि वहाँ 'ख' डब्बेके दरवाजे आ अड़ता है और ऊपर चढ़ते मुसाफिरोंको झकझोरता है—"जब पीछेके डब्बोंमें जगह खाली पड़ी है तो यहाँ क्यों घुसे आ रहे हो?" चढ़नेवाले नहीं मानते, तो कहता है—"हमारे देशमें तो भेड़िया-धसान है साहब, जहाँ एक घुसेगा, वहीं सब घुसेंगे।" और तब उसकी देशभक्ति उमड़ आती है—"तभी तो हमारे देशका यह हाल है।"

इसी खने पहले स्टेशनपर 'क'के बारेमें सोचा था—'अरे भाई, डब्बेमें जगह होगी बैठ जाऊँगा, नहीं तो खड़ा रहूँगा। तुम्हारे सिरपर तो मैं गिरूँगा नहीं, फिर तुम्हें मौत क्यों आ रही है!" तो क की तरह ख भी काना ही है।

एक और मित्र हैं। उनके एक लड़का है, एक लड़की। लड़केका विवाह हुआ तो उन्होंने लड़कीवालेसे उसी तरह रुपया वसूल किया, जैसे पुलिस-वाले किसी चोरसे चोरीकी जानकारी उगलवाते हैं। दानमें उन्हें ढाई हजार रुपये मिले, पर उम्मीद थी पांच हजारकी। वे शान्त रहे, पर दूसरे दिन बेटेने पैर अड़ा दिये कि यह तो वह लड़की तो नहीं है, जो पहले दिखाई थी, मानो कि इसे मैंने व्यापार कर समझा हूँ! चार-पांच घण्टेकी

रस्साकशीके बाद ढाई हजार और मिल गये, तो लडकी रूपमे लक्ष्मी और गुणमें सरस्वती हो गई।

मिले, तो मैंने कहा—"आपने तो कसाईको भी मात कर दिया खून निकालनेमें !"

बिना शरमाये और झिझके, वे बोले—"बिना दबाये गन्नेसे रस कहाँ निकलता है भाई साहब !"

कोई तीन वर्ष बाद उन्होंने अपनी बेटीका ब्याह रचाया, तो करमकी बात, उन्हे उन जैसा ही समधी मिल गया। ऐसा चूसा कि सफेद पड गये और यो कसा कि करवट न ले सके। विवाहके बाद एक दिन समाजकी दुर्दशापर आँसू बहाते-से वे कह रहे थे—"हमारे यहाँ लडकीवालेको तो कोई आदमी ही नही समझता। कम्बख्त मुझे इस तरह देखता था, जैसे मै उसके बापका कर्जदार हूँ।"

जीमें आया कह दूँ—तीन वर्ष पहले तो आपको गन्नेकी उपमा बहुत पसद थी भाई साहब !

वही कानेपनकी बात, बेचारेका बाजार घूम गया—लेनेमे दाये, तो देनेमें बायें !

एक और मित्र है, जब मिलते है, अपने इकलौते बेटेकी शिकायत करते हैं—"कोई बात सुनता ही नही, सदा अपने मनकी करता है। नाकमें दम है पडितजी ! ऐसी औलादसे तो बेऔलादा भला ! !"

एक दिन बेटा मिला, तो बोला—"मै तो उनसे परेशान हूँ पडितजी ! हमेशा रट लगाये रहते है यह मत करो, वह मत करो। आखिर आप ही बताइए कि मै कोई भेड हूँ कि गडरियेकी तरह वे मुझे हाँका करे, वरना मै गड्ढेमे गिर पडूँगा।"

कोई नई बात नही, सिवाय इसके कि दोनो काने है—बापको बेटेकी

जवानी नहीं दीखती, तो बेटा बापकी बुजुर्गी नहीं देख पाता।

जो हाल बाप-बेटेका है, वही पति-पत्नीका। एक मित्र हैं। रातमें ११ बजे क्लबसे लौटते हैं, तो पत्नी सोई मिलती है। एक दिन दुखी होकर बोले—"मैं सुबह ६ बजेसे कोई १४-१५ घंटे घरसे बाहर रहकर लौटता हूँ, तो श्रीमतीजी मेरा-सी पलंगपर सवार मिलती हैं।"

एक दिन बातों-बातोंमें मैंने कहा—"भाभीजी, आपसे भाई साहबको एक शिकायत है!" भरी तो बैठी ही थीं, बीचमें ही बात काटकर बरस पड़ीं—"ठीक है आपके भाई साहबको शिकायत है, पर पूरे १८ घंटे तेलीके बैलकी तरह काममें जुटी रहनेके बाद, जरा पलंगसे कमर लगाती हूँ, तो उनके कलेजेमें सर्कोटे क्यों दौड़ते हैं?"

वही बात कि दो काने एक गांठमें बंध गये और पति महाशय पत्नीको और पत्नी महोदया पतिको अपनी अपनी आंखसे घूर रहे हैं।

अपरिचित मुसाफिर या परिचित मित्र, सगे-सम्बन्धी या पति-पत्नी और पिता-पुत्रसे आत्मीय; जब दो भिन्न विचारोंके लोग आपसमें बातें करते हैं और एक-दूसरेसे सहमत नहीं हो पाते, तो एक-दूसरेको बेईमान मान बैठते हैं और इस प्रकार गुलझानेवाली बातचीत, उलझानेवाली कड़ुआहटमें बदल जाती है, पर यदि हम सब दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न करें, तो बड़े-बड़े विवाद यों ही शान्त हो सकते हैं।

दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो वातावरणको कोमलतासे भर देती है। यह कोमलता समन्वयके लिए जगह बनाती है और इस प्रकार बीचकी दूरी कम होकर एकताका जन्म होता है।

यदि दूरी इतनी अधिक और मौलिक हो कि एकता असंभव रहे, तब भी यह दूरी इतनी कम जरूर रह जाती है कि बीचमें एक हल्का मतभेद ही रह जाय और मन-भेदक बात न बढ़े!

चुभता रहे। प्रश्न भी जीवनकी एक कसौटी है। 'सबसे भले हैं मूढ़, जिन्हे न व्यापे जगत रति' यह तुलसीदास कह गये है। मेरी रायमें मूढ़ वह, जिसके मनमें कोई प्रश्न ही न उठे। जो जीवनको देखता है, जीवनके बीचसे गुजरता है, पर जीवनमे दिलचस्पी नही लेता, जिसके मनमें जीवनके सम्बन्धमे प्रश्न ही नही उठते, वह मूढ़ ही तो है।

फिर प्रश्नोकी भी श्रेणी है कि किस तरहके प्रश्न मनमे उठते है। रातमे तारोको देखकर कविके मनमें भी प्रश्न उठते है, वैज्ञानिकके मनमे भी और भक्तके मनमें भी, पर तीनोके प्रश्न अलग-अलग है और उनके प्रश्न ही उन तीनोको परखनेकी कसौटियाँ हैं। साथ ही यह भी कि किसके मनमे किस तरहके प्रश्न उठते हैं और वह किस तरह उनका समाधान पाता है।

इस सम्बन्धमें मेरा अपना तरीका यह है कि मुझमे स्वय प्रश्न उठते हैं और मै स्वय अपनेमें ही उनका समाधान खोजता हूँ। कई बार मुझे कई-कई वर्षोमें अपने प्रश्नका उत्तर मिला है और कई बार तुरत, पर अपनेसे बाहर समाधान पानेकी मुझमें प्यास कभी नही जागी।

बात यह कि मै विद्वान् नही हूँ, जीवन-पथका एक सतर्क यात्री हूँ, इसलिए मेरे प्रश्न तत्त्व-ज्ञानकी, गहरी जिज्ञासाके तो हो ही नही सकते। उनका सम्बन्ध जीवनके साधारण उलट-फेरोंके साथ ही होता है और तभी यह भी कि उनका उत्तर जीवनकी गतिविधिमें ही मिले।

आजका प्रश्न भी जीवनका एक स्वाभाविक प्रश्न है कि क्यो जी, जब सिरपर हजारो काले बालोका खडा रहना बुरा नही लगता, यही नही, यह भी कि अच्छा लगता है, तो उस बेचारे एक सफेद बालका ही खडा रहना तुम्हे ऐसा क्यो अखरा कि कैंची लेकर पडे?

प्रश्न फालतू हो, तो उसका टालतू उत्तर है मौन, पर वह फालतू न

होकर सही दिशामें हो, तो उसका समाधान हो, नहीं तो कहा नहीं मैंने कि वह पाँसा चुभता रहेगा—चुभ ही रहा है।

मैंने समाधानकी दिशामें झाँका ही था कि मुझे याद आ गये मेरे मित्र शर्माजी। हजामत तो वे बनाते हैं तीन ही मिनटमें, पर मूँछें ठीक करते हैं पूरे छह मिनटमें। बात यह है कि नाकके ठीक नीचे उनकी घनी काली मूँछोंमें कोई १०-१५ सफेद बाल उग आये हैं। वे उन्हें अपनी छोटी-सी कैंचीसे कुतर-कुतर करते रहते हैं और मुसीबत यह है कि वे यह तो चाहते हैं कि सफेद बाल किसीको दिखाई न दें, पर वे यह भी चाहते हैं कि किसीको यह भी दिखाई न दे कि उन्हें यहाँसे हटाया गया है। गरज यह कि वे उनका अपने साथ कोई सम्बन्ध होना अपनी हेठी मानते हैं।

फिर वही प्रश्न कि आखिर सफेद बालसे यह चिढ़ क्यों ? प्रश्न मेरी चेतनामें चक्कर काट रहा है और प्रश्न क्या चक्कर काट रहा है मैं ही चक्कर काट रहा हूँ। चक्करका अर्थ है घूमना। घूमना यानी अब यहाँ, तो तब वहाँ, सो पहुँच गया मैं वासुदेवकी माँके घर। उम्र ४० सालकी है, सब तरहसे सुखी, स्वयं सुहागन हैं, आगे बेटा-बहू हैं। उस दिन मैं वासुदेवको बुलाने गया, तो देखा कि माँ धूपमें बैठी अपनी बहूसे सफेद बाल चुँटवा रही हैं। ओर, इसे भी सफेद बालसे चिढ़ है।

मनमें आया ठीक तो है यह चिढ़ कि सारे बाल तो काले, बीचमें २-४ सफेद। ठीक ऐसा लगता है कि सफेद कुरतेमें किसीने लाल टुकड़ी लगा दी हो। सफेद बालके प्रति हमारी यह चिढ़ हमारे सौन्दर्य-भावना ही चिह्न है। मनको सतोष हुआ कि मैंने जो अपने चमकने सम्पर्कसे यह सफेद बाल शर्माजीके साथ कैंचीसे कुतरा, तो वह इस बातका एक प्रमाण ही हुआ कि मनमें सौन्दर्य-बोध है।

शर्माजी भी कितना चतुर हैं कि वह माँगसे तो किस्सा-पट्टी देता

ही रहता है, अपनेको भी नही छोडता। मैंने भी यो अपनेको सौन्दर्य-बोधका पण्डित मान लिया, पर यह मानना टिका नही, क्योंकि तभी मुझे याद आ गये मेरे मित्र चौधरी साहब ! मशहूर आदमी है। समाजमे नाम है, अण्टीमें दाम है। उम्र ढल चली है, पर देहमे बल है, चेहरेपर रौनक भी। बाल उनके काले हैं, यही मैं जानता था, पर उस दिन लखनऊ जानेकी बात चली तो बोले—"मेरे लिए खिजाबकी एक शीशी लेते आना। अमीनाबादपार्कमे मदिरसे आगे जो बडी-सी दुकान है, उसपर मिलेगी। ये लो पाँच रुपये।"

मैंने पूछा—"क्या कीजिएगा खिजाब मँगाकर ?" बोले—"नजलेके मारे सिर सफेद हो गया है।"

सोचना पडा कि सफेद बालसे हमारी चिढ हमारे सौन्दर्य-बोधका चिह्न तो नही है; क्योकि जिनके १०-२० बाल सफेद है, वे ही उन्हे नही नोचते, जिनका सारा सिर सफेद है, वे भी उन्हे रँगते हैं।

सफेद बालसे यह चिढ किस सीमातक है, यह मैंने मियाँ नूरूसे समझा। नूरू हमारे ही मुहल्लेमे रहता है, रातमे मडीमे चौकीदारी करता है। उस दिन दोपहरको अपने घरके बाहर बैठा था। मै उधरसे निकला, तो देखा कि उसके सारे सिरपर कोई दवा लगी है और ऊपर पट्टी बँधी हुई है।

देखा तो धक्से रह गया। मनमे आया, रात मडीमे कही चोरोसे मुठभेड हुई है और सिर फूटा है। सहानुभूतिसे पूछा—"क्यो भाई, कहाँ चोट खा गये ?"

"चोट !" नूरू मुसकराया—"बाबूजी, यह तो मैंने मेहँदी लगा रक्खी है।"

"सिरमे मेहँदी क्यो ?" उत्तरमे उसने बताया कि—"खिजाबकी

मामूली शीशी भी डेढ़ रुपयेमें आती है। कहाँसे लायें बाबूजी, इसलिए, बागसे मेहँदी चूँट लाये और पीसकर लगा ली।"

"पर नूरू भैया, इनसे बाल काले तो नहीं होते?" मैंने कहा, तो बोला—"अजी, काले नहीं होते, तो क्या हुआ, सफेद दाग़ भी तो नहीं रहते।"

मतलब यह कि कुछ भी हो, बाल सफेद न रहें—भले ही वे लाल हो जायें।

लहरमेंसे लहर उठती है, तो बातमेंसे बात। नूरूकी बातमेंसे नई बात उठी—बालोंकी सफेदीसे आदमीको चिढ़ है, चिढ़ गहरी भी है पर है, क्यों यह चिढ़?

जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। इस प्रश्नका उत्तर अतीतमें एक कवि दे गये हैं। वे थे केशवदास। बड़े रसिया थे, पर बेचारेके बाल सफेद हो गये, तो रस-भंग होने लगा। एक दिन दुखी होकर अपनी भाषामें बोले—

"केशव, केशन अस करी, अरि हू जस न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहिं॥"

केश इनके तो चले हैं, पर मन अभी तरुण है। तरुणाई रँगरेलियोंका त्योहार है, पर बाबा कहनेकी शर्म है कि आनेपर ही उनका प्रवेश-निषेध हो जाये। तो काले केश यौवनके उल्लासका चिह्न हैं और सफेद बाल बुढ़ापे-का। यौवनमें चाह है [illegible] शान्ति है। चाहमें प्राप्तिकी कामना है, शान्तिमें प्राप्तका सन्तोष है। कामनाकी शक्ति है आकर्षण, सन्तोषकी शक्ति है [illegible]।

काले केश यौवनका चिह्न हैं, सफेद बाल बुढ़ापेका। यौवनकी वृत्ति है—पाओ, और भोगो, [illegible]। बुढ़ापेकी वृत्ति है—[illegible] और पाये

हुएको परखो। यौवनकी वृत्तिका स्वरूप है–पिओ, पिओ, पिये जाओ, छको मत। बुढापेकी वृत्तिका स्वरूप है—बहुत पी चुके, अब ठहरो।

यौवन रक्त है, बुढापा ओज है। यौवन समेटना है, बुढापा सहेजना है। यौवन यात्रा है, बुढापा पडाव है।

काला वर्ण है—एकाग्रिताका चिह्न, सफ़ेद वर्ण है–सर्वागीणताका चिह्न, क्योकि काला एक रग है और सफेदमें सब रगोका समन्वय है।

सफेद बाल कहता है कि बुढापा आ गया है, यौवनमे जो कुछ समेटा है, उसे सहेज लो।

समेटमें सामग्रीकी बहुलता है, सहेजमे उसका वर्गीकरण है और यह भी कि जो फालतू है, बोझ है, उसे हम फेक दे।

हमारा मोह यहाँ चौकता है, बिदकता है—नही, अभी नही, अभी तो समेटका, सग्रहका, जो मिले, सो लेनेका ही समय है।

सफेद बालके प्रति हमारे मनमे जो चिढ है, वह इसी मोहकी ध्वनि है और इस ध्वनिकी प्रतिध्वनि है कि हम अभी सघर्ष चाहते हैं, सुख नही। यौवनमे सघर्ष है, उत्तेजना है, बुढापेमे शान्ति है, सुख है। सघर्पमे जीवनका रस है, सुखमे जीवनका फल है। रस काव्य है, सुख अध्यात्म है।

हम रसमे इतने लीन है कि फलकी ओर नही देख पाते—उस राहीकी तरह, जो चलते चलते राहकी चीजोको देखनेमे इतना मशगूल है कि मजिलको पार करके भी सोचता है, काश, अभी चला ही चलता।

ओह, इस चलाचलीमे मै कहाँ चला गया—बात तो बस इतनी ही है कि मेरी चमकती चाँद परजो थोटेसे बाल बच गये है, उन्हीमे एक था सफेद, जाने क्यो मुझे वह अच्छा नही लगा और अपनी छोटी कैंचीकी एक ही लपलपीमे मैंने उसे तुरक दिया।



# यह सड़क बोलती है !

नई दिल्लीकी एक सड़कका नाम है—पार्लमेंट स्ट्रीट। आल इण्डिया रेडियो इसीपर है और उसके चौराहेपर आते ही सामने दिखाई देता है वह गोल भवन, जिसमें हिन्दुस्तानके भाग्यका फैसला हुआ करता है।

क्या नाम है इस सड़कका भी! १५ अगस्तको हिन्दुस्तानमें हरेक चीज बदल गई, यहांतक कि राष्ट्रीय झण्डा भी चर्खा छोड़कर चक्रधारी हो गया, पर यह सड़क है कि पटी-पड़ी आते-जातोंसे मसखरियां करके कहती है—भाई, मैं पहले ही जानती थी कि दुनिया बदलेगी। कहो फिर बदली या नहीं? ऐसी बदली कि बरसाती बदली भी न बदली होगी, पर मैं आनेवाले दौरको पहले ही समझ गई थी और वाह क्या नाम रखवा था मैंने भी अपना—पार्लमेंट स्ट्रीट। रास्ता बनाती थी असेम्बली-भवनका और थी पार्लमेंट स्ट्रीट। कहां बेकार, बेअसर बहस करनेवाली असेम्बली और कहां सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पार्लमेंट; मुझे मालूम थी १५ अगस्तकी बात!

सच मुझे मालूम थी, बिल्कुल उसी तरह, जिस तरह ज्योतिषियोंको चांद-सूर्यके ग्रहणकी बात। न अन्दाज, न अटकल, न गालिबन, न यथा-सम्भव, पत्रामें साफ छपा रहता है और छपा क्या रहता है कोई भी हो, उसकी तस्वीरतक बनी रहती है कि कितना ग्रहण लगेगा। अजी, मिनट तो बहुत बड़ी बात है, पलोंकी गिनती लिखी रहती है। फिर दुनिया कोई मेरी भौजाई पर तो नहीं कि चाहे जहांसे देख लो, वैसा ही दीखे—पर दुनिया है जनाब, विश्व-ब्रह्माण्ड। पत्रामें साफ लिखा रहता है कि ग्रहण हिन्दुस्तानमें इतना दीखेगा, अफ्रीकामें इतना, अमरीकामें इतना और फ्रान्समें दीखेगा ही नहीं।

"तो क्यो जी, ये ज्योतिषी लोग ग्रहणको ही पहलेसे जान लेते हैं या आदमीकी किस्मतको भी ?"

वाह, क्या सवाल पूछा है आपने भी ! किस्मत ही नही, ये लोग किस्मतके पन्नोका एक-एक अक्षर ऐसा पढ लेते है, जैसे चवन्नी-दर्शक सिनमाके गानोकी किताब !

कुछ लोग बौक्सोमे बैठकर सिनेमा देखते है, कुछ फर्स्ट क्लासमें। सफेदपोश गरीब आदमी भी अपने बच्चोंका दूध बद करके १० आनेका टिकट खरीदते हैं। कुछ लोग और भी उस्ताद है। टिकट तो लेते हैं, १० आनेका, पर मैनेजर साहबसे दोस्ती गांठकर उसे सेकेण्ड क्लास बनवा लेते है, पर ये सब बेचारे यो ही पैसे खोते है सिनेमामे जाकर। पुराने लोग कहते हैं पैसा हाथका मैल है, पर आंखोकी रोशनी तो हाथका मैल नही, उसे भी खोते है ये लोग। बौक्सोमे तो जाने क्या क्या होता है, पर फर्स्ट और सेकेण्ड क्लासमें भी लोग घास खोदते है,जी हां, घास खोदते है, यानी समयकी जड काटते है।

जड काटनेका मतलब आपने खूब पूछा—समय कोई पेड थोडे ही है कि उसकी जडपर कोई कुल्हाडी मारे ! समयकी जड काटनेका मतलब है, समय बर्बाद करना। वही करते है ये लोग। ऐसे गुमसुम बैठे रहते है, जैसे इनके मुंहमे हापू निकल आया हो। कुछ लोग बात भी करते है, तो बेकार की। एक साहब है, अपनी टार्च जला-जलाकर कुछ नोट-बुकमें लिखते रहते हैं। बेचारे सपादक होगे किसी पत्रके। तभी तो अधेरेमे पटवीजने बन रहे है। घर जाकर आलोचना करेगे फिल्मकी। अरे साहब, फिल्म है तफरीह—मनोरजन। दिनभर दफ्तरमें घिसे, शामको घरके धन्धोमे पिसे, रातको ये दो घण्टे मिले, हँसिए, उछलिए, फुदकिए, चहकिए !

असलमें सिनेमा देखना सीखिए पांच आनेवालोसे। ऐसे लीन रहते

हैं फिल्ममें कि क्या कहने। किसीकी शादी पर्देपर हुई, तो ऐसे खुश हैं कि बस जैसे वे ही दूल्हे बन रहे हों। किसी प्रेमिकाने अपने प्रेमीको आधी रात बागमें बुलाया, तो जैसे उन्हींको निमन्त्रण मिला है। हर मौकेपर फिट रिमार्क और चुस्त चोचलेबाजी। क्या खाक बीडी पीकर आलोचना लिखेंगे बेचारे संपादकजी, हूँ! एक दिन उन दर्जेकी आलोचनाको शार्टहैण्डसे लिख लें, तो संपादकजी धन्य हो जायें! ये लोग थके हुए आते हैं और ताजे होकर लौटते हैं, जब कि गद्दोंपर बैठनेवाले सिनेमा हालके बरामदेमें अंगड़ाइयां लेकर अपनी मोटरों या तांगोंकी सीटोंपर आ गिरते हैं। सच यह है भाई साहब, जिन्दगी जिन्दादिलीका नाम है।

यह दुनिया भी चोचोंका मुरब्बा है। चोचोंका मुरब्बा? हां जी, एकदम चोचोंका मुरब्बा। जो लोग दिनभर गद्दियोंपर बैठे रहे, बद हाजमा जिनका ऐसा भारी कि मरियम तो मरियम पै टरियम नहीं, सिनेमामें बैठे-बैठे भी जिनकी पिण्डलियां फूल जाती हैं, वे मोटरोंमें क्यों बैठते हैं? रातका सुहावना समय और परिवारका साथ, टहलते-टहलते घर आयें, तो क्या कहने! और जो कहीं चांदनी रात हो, तो वाह, वाह! चांदनी रात क्या है, धरतीका स्वर्ग है।

सुना है अमेरिकामें एक यूरोपनिका लड़का ३–४ सालकी उम्रमें अन्धा हो गया। यह तबकी बात है, जब वहां आंखोंका आपरेशन नहीं होता था। ३६-३७ वर्ष वह अन्धा ही रहा, मनुष्यकी प्रकृतिका कितना बड़ा दम है! पिछले वर्षोंमें जो नये-नये आविष्कार हुए, उनमें कई औषधियां भी थीं और कई नये आपरेशन भी! उस लड़केकी किस्मत जागी और वह ठीक हो गया। लड़का क्या अब तो वह ४० सालका अधेड़ था। ओह, उसकी खुशी! बादलोंको देखकर मोर भी क्या नाचता होगा, जो वह नाचा। सारी दुनिया उसे अजीब लगी। हर चीजको वह एक नाम

कौतुकसे देखता, घटों देखता, बार-बार देखता, देखता ही रहता। उसे आश्चर्य होता कि इस इतनी सुन्दर दुनियाको देखे बिना ये अन्धे कैसे जीवित रहते हैं ?

एक दिन अचानक उसके मनमें आया कि वह सारे ससारके सुन्दर स्थानोकी सैर करे। रुपया पास था, काम-धन्धेकी चिन्ता न थी, बस निकल पडा दुनियाकी सैरको ! यह देख, वह देख। घूमता-घामता वह हमारे देशमें भी आया। अमेरिकामे पहुँचकर जब पत्रकारोने उससे पूछा, तो उसने कहा—दुनियाकी सबसे सुन्दर चीज़ हिन्दुस्तानमें पूनोकी चाँदनी रात है। उस दिन ऐसा मालूम होता है कि लोहेकी काली रात अचानक चाँदीकी हो गई है।

वाह, क्या कवियो-जैसी बात कही है उस धनी अमेरिकनने। मेरी भी यही राय है कि चांदनी रात धरतीका स्वर्ग है, पर भाई साहब, हमारे देशमें कुछ लोग है, जो चाँदीके तगार घोलनेमे परेशान हैं और कुछ आसमानके स्वर्गका पासपोर्ट बनवानेमे। यह अपने सामने फैली चाँदी और अपनी मुट्ठीका स्वर्ग उन्हे दिखाई ही नही देता !

आदमीके दिमागमे यह क्या खुराफात भरी है कि वह काचनको छोडकर काँचकी ओर लपकता है। एक स्वामीजी एक दिन अपने किसी चेलेको एक कहानी सुनाते जा रहे थे कि एक गरीब आदमीने किसी साधु महात्माकी बडी सेवा की। महात्माजी प्रसन्न हो गये और बोले—लो, यह पारस पथरी तुम्हे दिये जा रहा हूँ, परसो आकर ले लूँगा। तबतक जितना सोना तुम चाहो बना लो। परसो जब मैं आऊँगा तो ठहरूँगा नही। फौरन पारस पथरी लेकर चला जाऊँगा। गरीब आदमी बडा खुश हुआ, पर उसने सोचा कि अब तो मेरा भाग्य बदल ही गया, अब क्या। आज तो इस खुशीमे मैं खूब सोऊँगा और कल लोहा खरीदकर उसका सोना बनाऊँगा। वह उस

दिन खूब सोया। दूसरे दिन सुबह उठा और लोहा खरीदने चला, पर रास्तेमें एक मदारीका खेल हो रहा था, वह उसे देखनेमें लग गया और दोपहरी चढ़ आई। रईसी बेचारेके दिमागमें आ ही गई थी। सोचा—चलो, अब खाना खाकर सोएँगे। शामको लोहा खरीदेंगे। खरीदा और पारस पथरी फेरी; काम ही कितना है। शामको लोहा खरीदने गये, तो भाव न बना। उनका कहना था कि जब हम ५०-१०० मन इकट्ठा खरीद रहे हैं, तो दुकानदारको हमारा लोहा हमारे घर पहुँचा देना चाहिए, पर दुकानदार इसपर तैयार न हुआ। ग्राहकके दिमागमें नई रईसीके सपनोंकी गरमी, वह भी न झुका और चला गया। उसने सोचा—महात्माजी कल सुबह थोड़े ही आ जाएँगे? मैं जल्दी उठकर दूसरी दुकानसे लोहा खरीद लूँगा, पर दूसरे दिन वह सो ही रहा था कि महात्माजी आ पहुँचे। वह बहुत रोया, घिघियाया, पर वे न माने। इसके लिए भी तैयार न हुए कि वह गरीब अपने किवाड़ोंकी कुण्डी-साँकल ही या सोना बनाले। महात्माजी अपनी पारस-पथरी लेकर चलते बने। बेचारा सिर पीटता रह गया, पर यह कसूर किसका था?

दुनियामें बहुत ही कम लोग हैं, जो नफे-नुकसानको ठीक-ठीक समझते हैं। यह बेवकूफ भी मजदूरोंके कुछ रुपये बचानेकी चिन्तामें, लाखोंका नुकसान कर बैठा। कभी-कभी तो नफे-नुकसानका सवाल इतना सूक्ष्म हो उठता है कि उसे समझना ही मुश्किल हो जाता है। बड़े-बड़े पण्डित भी जाते हैं कि नफा क्या है, नुकसान क्या है?

एक दिन किसी बड़े घरका खानसामा—दो साइकिलें एक साथ लिये जा रहा था। अब सूरत यह थी कि वह दोनोंपर पैदल और एक साइ-किल उसके बायें हाथ और एक दायें हाथ। दोनोंको लिये वह जा रहा पैदल। सब देखनेके, उसके पास दो सवारियाँ, पर असलमें वह खुद उनकी सवारी बना

हुआ। यानी साइकिलोपर वह नही, साइकिले उसपर सवार। जिनके पास एक साइकिल वे हवासे बाते करते हुए निकले जा रहे है, पर जिसके पास दो सवारियाँ, वह घिसट रहा है जमीनपर। हाँ जी, यह घिसटना ही है कि साइकिलोपर हाथ रक्खे चले जा रहे है, जैसे यह भी कोई नृत्यकी मुद्रा हो या डान्सका पोज। अब अगर यह खानसामा एक साइकिल किसीको दे दे, तो क्या हो? पहली बात तो यह कि यह सवारीसे सवार हो जाये और दूसरी यह कि इसे एक और आदमी भी अपनी बगलमें हवासे बातें करता नजर आये। हमेशाके लिए जो एक आदमी सुख-दुखका साथी बन जाये, वह नफेमें, पर नही यह जमीनपर ही रेंगेगा और किसीको देगा नही अपनी एक साइकिल।

और फिर इस बेचारे खानसामाकी क्या शिकायत। यह तो किसी दूसरेकी साइकिले लिये जा रहा है। यह एक किसीको दे दे, तो इसकी वह चाँदमारी हो कि तबियत हरी हो जाए। हमारा तो सारा समाज ही इस विषमताका शिकार है। हमारे विद्वानोने अर्थशास्त्रके नामपर समाजमें कही टीबे खडे कर दिये है और कही गड्ढे खोद दिये हैं। नफा-नुकसान भी यह एक अजीब पहेली है।

और क्यो जी, पहेली क्या नही है? सारा जीवन पहेली ही पहेली है। प्राचीन भारतके किसी धर्म-जिज्ञासुने परेशान होकर कहा था—'**श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्**!' वेद अलग हैं, स्मृतियां अलग है, अरे भाई, कोई भी ऐसा मुनि नही, जिसकी बात हरेकके लिए प्रमाण हो और फिर खैर, यह तो धर्मकी बात हुई—**धर्मस्य त्वरिता गति**— धर्मकी गति सूक्ष्म है, उसे भाँपना आसान नही, पर यहाँ तो हरेक आदमीकी अपनी ही राय है।

मेरे पडोसमें स्टेशनसे सिविल लाइनको जो सडक गई है, उसपर कुछ

लम्बे-लम्बे पहाड़ी पेड़ खड़े हैं। उनमेंसे एकपर उस दिन एक चील बैठी थी। उधरसे दो ऐंग्लो इंडियन लड़के आये और उन्होंने अपनी छोटी बन्दूक़से उस चीलपर वार किया। निशाना ठीक बैठा, छर्रा कलेजेको बींध गया। चील टूटे आम-सी नीचे आ गिरी। बारूदकी आगमें वह भुनी जा रही थी। उन लड़कोंने उसे देखा और चल दिये। उनमें किसीने कहा—अरे, इसे मारा है, तो उठा ले जाओ।

लड़के बोले—"हम इसे क्या करेंगे?" पूछा गया कि तब तुमने इसे मारा ही क्यों? लड़के मुसकराये—"वाह, हम तो निशाना सीख रहे हैं!" तभी उधरसे दो और लड़के आये। एकने दूसरेसे कहा—आ भाई इसे हलाल करें। वे दोनों उसके पास जा बैठे। चाकू निकालकर उन्होंने कुछ मन्त्र-सा पढ़ा और उसके गलेसे वह उतार दिया। चील हमेशाके लिए सो गई। लड़कोंने अपना चाकू घासमें साफ किया और चलने लगे। किसीने उनसे कहा—"अरे भाई, तुमने मारा है, तो ले जाओ इसे!"

लड़के बोले—"हम इसे क्या करेंगे ले जाकर?"

"खा-पका लेना और क्या करोगे?"

"जी नहीं, चीलका गोश्त खानेके लायक नहीं होता!"

"फिर तुमने इसे मारा ही क्यों?"

"अजी, हम तो हलाल करना सीख रहे थे!"

तब यानी, पहलोंकी नज़रमें चील निशाना सीखनेका सिर्फ़ साधन है, तो दूसरोंकी नज़रमें हलाल सीखनेकी गुड़िया ही! है न हरेककी अपनी राय? यह छोटी-सी घटना अपनेमें उतनी बड़ी पहेली है कि सुलझाये नहीं सुलझती। इस दुनियामें लाखों आदमियोंका यही पेशा है कि वे यह बतायें कि इस मामलेपर अमुक महापुरुषकी क्या राय थी? इससे भी मज़ेदार बात यह कि यदि इस मसलेपर महापुरुषने कभी कोई राय नहीं दी, तो यदि

वे राय देते, तो क्या देते? समाजमें इन्हे धर्मगुरु कहा जाता है, इनका मान किया जाता है। अच्छा छोडिए धर्मगुरुओकी बात, इन वकीलोको देखिए। दोनो तरफके दो वकील, पर कानून एक। दोनो अपना-अपना अर्थ वताते है। अव जिसका भी अदालत मान ले—यानी कानून न हुआ, लाटरी हुई कि जिसकी खुल गई, खुल गई!

ओह, मै भी इधर-उधरकी बातोमें ऐसी उलझी कि अपनी बात ही भूल गई। मै कह रही थी कि मेरा नाम पार्लमेट स्ट्रीट है और भविष्यका रूप मै पहलेसे ही जानती थी। वात यह है कि जव सिरपर आ पडे, तब तो सभी समझ लेते है, पर खूवी तो उसकी है, जो दूरसे ताड ले। मै यह न ताड पाती, तो आज मेरा भी तख्ता उलटा जाता। मेरा यह पाठ ससार पढ ले, तो ६५ फीसदी दुख छू-मन्तर हो जायँ। मै आज भी लोगोकी वातें सुनती रहती हूँ। ससार वदल रहा है, पर सामाजिक और धार्मिक सस्कारोके सवघमे लोग अपने विश्वासोको नही बदलना चाहते। अब कोई पूछे इनसे कि २० वीमे १६ वी सदी कैसे टिक सकती है? बदलेंगे बेचारे, रो-झीककर, पर वात उनकी है, जो भविष्यको वर्तमानमें देख लें और तैयार हो जाएँ उसके लिए।

मेरी तो यही वात है, जिसे मै अपने देशके हरेक आदमीसे कहना चाहती हूँ और इसीलिए मै हर आते-जातेसे वोलती रहती हूँ।



# धूप-बत्ती; बुझी, जली !

अपनी कोठरीमें आते ही देखा कि कल सुबह जो धूप-बत्ती जलाई थी, वह पूरी तरह जली नहीं थी, कुछ जलकर बुझ गई थी और अब भी ज्यों की त्यों खड़ी है। मुझे वह सिर-जली ऐसी लगी कि जैसे कोई मनुष्य हो; थोड़े बहुत ज्ञानसे जिसका बौद्धिक जागरण तो हो गया हो, पर मानसिक विकास न हुआ हो और वह उस बौद्धिक जागरणको अपना संपूर्ण विकास मानकर अहंकारसे उफना फिरता हो।

हाय रे बिचारे ज्ञान-दग्ध—ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति।

मेरा मन दयासे भर गया और मैंने उस धूप-बत्तीको बिना उठाये ही फिरसे जलानेका निश्चय कर लिया। झट मैंने दियासलाई जलाई और उसे धूप-बत्तीके सिरसे लगाया। दियासलाई जलकर बुझ गई, पर धूप-बत्ती न जली। मैंने दियासलाईकी दूसरी सींक जलाई और उसे उसके दाहिनी ओर लगाया, पर धूप-बत्ती न जली। मैंने तीसरी दियासलाई जलाई और उसे उसके बाईं ओर लगाया, पर वह भी जलकर बुझ गई।

धूप-बत्ती अब भी बिना जली—पहले जैसी ही सिर-जली खड़ी थी और मेरे लिए अब कोई मार्ग न था कि उसे खड़ी रहते जला दूँ। मैंने उसे उसके स्थानसे उखाड़ लिया और उसे झुकाकर चौथी दियासलाई जलाई। अरे साहब, वह दियासलाईसे छूते ही जल उठी। दियासलाईमें अब भी इतना दम था कि तैयार हो, तो वह ४-५ धूप-बत्तियाँ और जला दे।

जलती धूप-बत्तीने अपनी सुगन्धसे कोठरीको भर दिया। यह काम समाप्त हुआ तो बुद्धिने अपनी गवेषणा दिखाई—तीन दियासलाइयाँ

पूरी जलकर बुझ गई, पर धूप-बत्ती न जली और एक दियासलाईके स्पर्श मात्रसे ही वह भभक उठी, यह क्या बात है ?

मनने कहा—कोई बात तो है यह, पर प्रश्न तो यह है कि क्या बात है वह ?

अब ऊहापोह की बारी है, तर्क-वितर्ककी बारी है, चिन्तन की बारी है।

जबतक तीन दियासलाइयाँ जलकर बुझी, धूपबत्ती खडी थी और जब वह चौथीको छूते ही जल उठी, तो झुकी हुई थी।

लगता है—इस अनुभवमे मेरे प्रश्नका उत्तर आ गया है, पर वह इतना सकेतात्मक है, कि कहूँ—समा गया है। समायेको जानना आवश्यक है, तो सोच रहा हूँ कि धूप-बत्ती खडी हो या तिरछी, उसमे जलनेकी शक्ति बराबर ही है, पर खडी हुई धूप-बत्ती दियासलाईकी ज्वालाको ग्रहण करनेमें असमर्थ रहती है और तिरछी धूप-बत्ती उसे सुगमतासे ग्रहण कर लेती है, क्योकि झुकी हुई धूपबत्तीको दियासलाई अपनी लौके पूरे घेरेमे ले पाती है और सीधी खडीको नही।

बात हाथ आ गई, पर बात अपनेमें इकली-इकहरी बात ही तो नही है—उसमे बात-बातमें बात भी तो है-'ज्यो केलेके पातमें पात-पातमें पात ।'

तो यह निकली आ रही है बातमेंसे बात कि किसीसे कुछ लेना हो, तो झुकना आवश्यक है। झुकना, क्या शरीरका ? नही जी, यो झुककर, दण्डवत् लेटकर ही तो फौजके सिपाही गोलियाँ दागते हैं, तो झुकना देहका नही, भावका। साफ-साफ यो कि पानेके लिए नम्र होना आवश्यक है। लोकोक्ति है—बेटा बनकर सबने खाया, बाप बनकर किसीने नही। यह बेटा बनना नम्रता ही तो है ?

याद आ रहा है सस्कृतका एक श्लोक, जिसमे सुखकी कुजी बताई गई

है—विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्। पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्। भाव यह है कि विद्यासे मनुष्यमें विनय आती है, विनयसे पात्रता—पानेकी योग्यता—और वह पात्रतासे पाता है धन, धनसे करता है धर्म, तब सुख ही सुख। तो पात्रताका मूल है विनय, नम्रता—झुकना।

क्यों भला? नम्रतासे दाताके मनमें प्रवेश पाना सुगम है, सहज है। इससे दाताके मनमें देनेकी वृत्ति खिलती है, वह देनेमें सुख पाता है और अविनयसे वह वृत्ति सकुचित होती है, वह देनेमें भार मानता है।

हमारे लोक-जीवनमें इसका एक मर्मस्पर्शी संस्मरण सुरक्षित है—'कानी भाभी, पानी पिला। हाँ, इन दोनों हाथोंके कटोरे!'

भाभीकी एक आँख शीतलामें मारी गई और अब वह कानी है। उसका देवर—भाभीके लिए जिसमें प्यार होई, रिश्ता नहीं—उससे पानी माँगता है। लोककी ही अभिव्यक्ति है—पानीसे भी सस्ता क्या? देवर-कोई क्या, पानी तो किसीको भी पिलाया जा सकता है, उसके लिए किसी पात्रताकी आवश्यकता नहीं।

ठीक है, पानी पानेके लिए किसी पात्रताकी आवश्यकता नहीं, पर अपात्रता न हो, यह तो आवश्यक है और 'कानी' विशेषणने—देवरकी अविनयी वृत्तिने—इसकी अपात्रता सिद्ध कर दी है।

भारतीय संस्कार है कि जो सामनेको दे—स्वाभिमान दीखने—वह पतित, तो देवरको भाभीका चुभता उत्तर है—'हाँ, इन दोनों हाथोंके कटोरे!' अरे देवर जी, तुम्हारे बोल तो इतने मीठे हैं कि मैं तुम्हें पानी नहीं, दूध पिलाऊँगी; मुँह धोये रहो!!'

हमारे लोक-जीवनमें विनयका भी एक संस्मरण सुरक्षित है—'रानी भाभी, पानी पिला, रानी देवरके दुलारो!'

प्यासा देवर भाभीसे कहता है— मेरी रानी भाभी, दो घूंट पानी पिलादो। रानीके विशेषणमे जो नम्रता है, अपनी अपेक्षा दूसरेको महत्त्व देनेकी जो वृत्ति है, उसने भाभीका मन पुलकित कर दिया और उसकी उदारताको, ममताको जगा दिया है।

वह कहती है—अरे देवर जी, पानीका क्या पिलाना, पानी तो मै लाडले देवरके कुत्तोके लिए भी स्वय कुएँसे भर-खीच लाऊँ, देवर जी, तुम तो कुछ और पिओ—दूध, लस्सी, शिकजवी, शर्वत।

मॉगा था पानी, मिला चुभता ताना और मॉगा था पानी, पर मिल रहा है दूध-शर्वत। झुकने और अकडनेका यह चमत्कार है।

ओह, याद आगये मेरे बुजुर्ग दोस्त कुन्दनलाल। मेरी ही जन्मभूमिमे सुनारका काम करते थे। बडे ही दिलचस्प आदमी थे। जब हम उनकी दुकानपर पहुँचते, वे सोने-चाँदीका कोई जेवर बनाते होते और हम कहते—'कहिए, क्या बना रहे है भाई साहब ?'

वे अपना हथौडा रोक देते और राजा टोडरमलके समयका अपना चश्मा नाकसे माथेपर रखते हुए कहते—"अजीव सवाल है कि आज मै क्या बना रहा हूँ ? अरे भाई, किसीकी बनती है नथ, किसीकी अगूठी, किसी-का हार और किसीका कगन, पर अपनी तो मै दाल-रोटी ही बनाता हूँ, क्या आज, क्या कल और क्या परसो।" और तब ऐसी मीठी हँसी हँसते कि उस बुढापेमे भी उनका खुबानी चेहरा कन्धारी अनार हो जाता।

अपनी ठुक-ठुकके बीच उन्होने उर्दूमे कुछ कविताएँ भी लिखी थी। एक शेर याद आ रहा है, पर याद धोखा दे गई, शेर कहाँ, शेरका भाव ही बस कि सुराही बहुत कीमती है, उसमे शराब भी बहुत कीमती है और वह साक़ीके बहुत कीमती हाथोमे भी है—है बेशक, पर महत्त्व तो उस मामूली

प्यालिका है, जो उन सुराहियोंको सिर झुकाकर शराब देनेके लिए विवश कर देता है।

यही बात कि देनेसे बढ़कर लेनेवालेकी पात्रता है। लो, स्मृतिके आसनपर आ बैठे हैं पूज्य मदनमोहन जी मालवीय, जिनपर सदा धन बरसा। उस बार काशी-विश्वविद्यालयमें उनके दर्शन करने गया, तो बातों-बातोंमें उन्होंने कहा था—"देशके हर द्वारपर एक दाता खड़ा है अपनी खुली थैली लिये, पर कमी उन हाथोंकी है, जिनमें वह अपनी भेंट दे सके।"

मेरे उठते-उठते, आग्रहसे कहा था उन्होंने—"भूलना मत इसे।'

और बम्बई मेलके उस फर्स्टक्लास कम्पार्टमेण्टमें उस दिन पूज्य मालवीयजीके सन्देशका परीक्षण कितना सफल रहा था ?

मेलका हर डब्बा क़रीब-क़रीब 'एयरटाइट' था, बस खाली था एक डब्बा, पर इसमें चढ़ना शेरकी दाढ़से गोश्त निकालना था। स्टेशनके आते ही उसकी बन्द खिड़कीसे एक शानदार पेशावरी पठानका चेहरा बाहर निकल आया। खिड़कीके बाहर हम सात मुसाफिर थे। खान और फौजी उस युगके शेर-सांप थे; उन्हें लांघना कठिन क्या, असम्भव ही था।

खानने मुसाफिरोंको देखा और पूरे रौबसे कहा—"खिड़की नहीं खुलेगा।"

हम सबने समझ लिया कि ठीक ही है यह कि खिड़की नहीं खुलेगा, तो हम सात मुसाफिरोंमेंसे पांच तो उसी क्षण दूसरे डब्बेकी ओर भाग लिये। छठेने सामनेसे जाते गार्डसे शिकायत की—"जनाब, ये हज़रत पूरा डब्बा घेरे बैठे हैं और हमें चढ़ने नहीं देते।"

गार्ड महाशयने जाते जाते यूनीफार्मके रौबसे उस नाटकीय स्वरमें खानसे कहा—'आप इन मुसाफिरोंको चढ़नेसे नहीं रोक सकते; खोलिए खिड़की।

खानने सचमुच खिडकी खोल दी और चैकरकी ओर मुसकराते हुए कहा—"ओ शाला, तुम वैठाएगा इशको? बैठाओ। जब गाडी चलेगा और हम इस शालाको बाहर फेंकेगा, तो तुम शाला झण्डी हिलाना।"

चैकर तो खिसका ही, वे मुसाफिर महाशय भी नौ-दो-ग्यारह हुए। खानने उन्हे आवाज़ देकर कहा—"ओ शाला, कहाँ जाता है? आवो ईढर, हम पूरी शीट देगा।" निमत्रण काफी उदार था, पर उसे स्वीकार करनेकी शक्ति उन महाशयमें न थी। वे चले, तो चले ही गये। खानने अपनी खिडकी धम-से वन्द करली।

मै अव भी अपनी जगह खडा था—अपनी अटैची हाथमे लटकाये। खानने मुझे देखा, मैने खानको। उसने क्या मोचा, मै नही जानता, पर मैने सोचा—'मालवीय जी महाराजका वचन है कि हर द्वारपर एक दाता खडा है, तो क्या यह खान भी दाता है?'

तभी खानने मुझसे कहा—"तुम नही गया?"

मैने सक्षेपमें कहा—"नही खान साहव!"

"क्यो, गाडी मे नही चडेगा?"

"चढूंगा, अगर आप प्यारसे चढाएँगे।"

"क्यो? दूसरे डव्वेमें नही चडेगा?"

"खान साहव, आप एक वहादुर पठान है और वहादुर आदमीका दिल वहुत वडा होता है। उसमें ही जगह न मिले, तो फिर कहाँ जगह मिलेगी?"

"तुम डरता नही—हम तुम्हे नीचे फेंक देगा?"

"नही खान साहव, वहादुर आदमीके पजे सख्त होते है, दिल मुलायम होता है। आप मुझे नीचे नही फेंक सकते।"

खानने कुछ सोचा कि तभी गार्डकी सीटी वजी और हरी झण्डी हिली।

खानने खिड़की खोली और मुझे बुलाया। मैं झपटकर खिड़कीपर पहुँचा कि खानने सहारा देकर मुझे भीतर ले लिया।

१८ आदमियोंके बैठने लायक उस छोटे-से डब्बेमें खान था, उसकी खूबसूरत बीवी थी और दो बच्चे थे। सबके बिस्तर बिछे थे; जैसे वे पलंगपर ही हों। मैंने खानकी बीवीको सलाम किया और खानको धन्यवाद दे, दूसरी तरफ बैठ गया। कुछ देर बाद धीरे-से खान मेरे पास आया और उसने मुझे दो बहुत बढ़िया सेब दिये। खाकर मजा आ गया और मैंने सोचा—"मालवीय जी महाराजका कथन सत्य है कि देशके हर द्वारपर एक दाता खड़ा है, अपनी मुट्ठी बँधी लिये, पर कमी उन हाथोंकी है, जिनमें वह अपनी भेंट दे सके।"

सचमुच यह खान, जिसे हम सब मुसाफिरोंने यमदूत या जीता भूत समझा था, एक दाता ही तो था और उसकी प्यार भरी भेंट मेरे हाथोंमें थी, पर मेरी सनक देखिए कि मैं अब अपने दाताकी कलदार परीक्षा लेने पर तुल गया था।

दूसरे स्टेशनपर गाड़ी आकर रुकी, तो सबसे खास स्टेशन मेरी तरफ था। खानकी तरह मैं खिड़कीसे बाहर झुक गया। तीन मुसाफिर थे—दो जवान एक बूढ़ा। बिना खानकी तरफ देखे, जोरसे मैंने कहा—'बूढ़े बाबा, यह खान साहबका डब्बा है। उन्होंने मुझे मेहरबानी करके बैठनेकी जगह दे दी है। यह जगह मैं तुम्हें दे दूँगा और खुद खड़ा रहूँगा। तुम भीतर आ जाओ।' और बिना इन्तजार किये, मैंने उन दोनों जवानोंसे कहा—"तुम्हारे लिए किसीको नहीं कहूँगा, तुम कहीं और चले जाओ।"

उधर वे दोनों चले गये और मैंने बूढ़ेको भीतर ले, अपनी जगह बैठा लिया। मैं कुछ देर तो खिड़कीसे लगा खड़ा रहा और फिर डिब्बेमें टहलकर

खडा-खडा अपनी पुस्तक पढने लगा। कोई २० मिनट बाद खानने पूछा—"तुम क्यो खडा है मेरे भाई ?"

सरलतासे मैंने कहा—"खान साहब, आपने मेहरबानी करके जो जगह मुझे दी थी, वह मैंने बूढे बाबाको दे दी, लेकिन मुझे कोई दिक्कत नही है, आप आरामसे लेटिए।" खानने बिना अपनी गभीरता भग किये, कहा—"नही, तुम भी बैठो।" खानको धन्यवाद देकर मै बैठ गया।

दूसरे स्टेशनपर गाडी ठहरी, तो मैंने एक स्त्री और उसके बालकको अपनी जगह बिठा दिया और खडा हो गया। कुछ देर बाद खानकी बीबीने खानके कानमें कुछ कहा और खानने मुझे फिर बैठा दिया।

अब दोपहर भर गई थी। सोनेके लिए करवट लेते-लेते खानने मुझसे कहा—"तुम चाएगा, तो किसीको बैठाएगा, पर तुम जरूर बैठेगा—हम सोता है।"

और खान जब सोकर उठा, तो हम १२ थे। खान देखकर हँसा और बोला—"सरकार तुमको रोज़ बौम्बे मेलमे रखे, तो बौत मुसाफिरको आराम होगा।"

मैंने कहा—"पर खान साहब, आपको भी मेरे साथ रहना पडेगा, नही तो मुझे खाली डब्बा कहाँ मिलेगा!" खान और उसकी पत्नी इतने जोरसे हँसे कि मज़ा आगया।

शामको ७ बजे मैं अपने स्टेशनपर उतरा, तो खानने मुझसे हाथ मिलाया और उसकी बीबीने मुझसे पहले मुझे सलाम किया।

खानकी सख्ती क्यो छूमन्तर हो गई थी ?

खान देनेको क्यो उतावला हो उठा था ?

मेरी सफलताका रहस्य क्या था ?

धूपबत्ती तीन दियासलाइयोंमें क्यों न जली ?

चौथी दियासलाईके छूते ही क्यों जल उठी ?

देख रहा हूँ—धूपबत्ती भम-भम जल रही है और मेरी कोठरी उसकी भीनी सुगन्धसे भरी है। सोच रहा हूँ—यह पहली दियासलाईमें जल जाती, तो यह बात और बातमें छिपी बात मैं कैसे पाता ?

# सहो मत, तोड़ फेंको !

[ १ ]

कई साल बाद मैं अपने उन मित्रके घर गया, तो मुझे वे एक नया आदमी-सा लगे। हँसी उनमे फूट-बिखरी, तो मस्ती उठ-उभरी, चुलबुले वे इतने कि राह चलतोसे छेड़कर बाते करे, पर अब देख रहा हूँ कि उनपर एक बोझ-सा लदा है और जैसे वे कुछ खोये-खोये-से है। वे हँसते है, तो उस हँसीमे कही प्राण नही और जी रहे है, तो जैसे अनमने होकर !

देखा था वसन्त, तो देख रहा हूँ पतझड, बहुत अजीब-सा लग रहा है उनके साथ रहना, पर पूछता हूँ उनसे कि भाई, यह सब क्या है, तो कहते है—"कुछ नही, बहुत दिनमे मिले हो, तभी ऐसा लगता है, ठीक तो हूँ।" पर ठीक कहनेसे ठीक हुआ करता, तो यह दुनिया आज तक जाने कैसी हो गई होती। देख रहा हूँ कि चल तो सभी कुछ रहा है, पर चूल हिली हुई है।

"क्या मै आपके पीछे आपकी डायरी पढ सकता हूँ इन तीन वर्षोंकी ?" दफ्तर जाते हुए मित्रसे मैंने पूछा, तो वे खोखली-सी आँखोसे मुझे देखते रह गये। मुझे मालूम था वे बराबर डायरी लिखते है और उस डायरीमे वे खुद होते है, तो उसमे उनके मनका बोझ भी होगा !

मित्र बोले कुछ नही, अपनी दराजसे निकालकर दो वर्षोंकी डायरियाँ मेरे पास रख गये। दोपहरमे मैंने चालू वर्षकी डायरी उठाई, तो ५-७ दिन पहले पेजपर उन्होने अपने मानसिक संघर्षका यह सार दे रक्खा था—

"देख रहा हूँ कि गभीर होता जा रहा हूँ और जिस प्रसन्नताके सहारे

मौत जैसे मोर्चोंपर भी मैंने हार न मानी, वह बुझती जा रही है। इस तरह मैं एक धनकुबेरसे निर्धन होता जा रहा हूँ और डर है कि यह निर्धनता मुझे भिखारी न बना दे।

यह क्यों हो रहा है?

पिछले दो वर्षोंमें मैं अपनोंके द्वारा बहुत पीड़ित हुआ हूँ। कसाई जो जानवरको कत्ल करता है, वह उस पीड़ासे बहुत कम है। उसका प्रहार एक बार होता है, यह निरन्तर हुआ है। उस पीड़ाका प्रहारके बाद अन्त हो जाता है, यह प्रहारके बाद और भी उफनती है। फिर वह प्रहार उस मनुष्यके हाथों होता है, जिसका हित ही उस प्रहारकी सफलतामें है। यह प्रहार उन हाथों हुए कि जिनका हित मेरे जीवनके साथ नत्थी है।

क्या मैं उनसे कमजोर हूँ?

जिनके द्वारा ये प्रहार हुए हैं, मैं उनसे कमजोर नहीं हूँ, क्योंकि वे मुझपर निर्भर हैं, मैं उनपर नहीं। फिर? फिर क्या, मैं अपनी नम्रता और अपार स्नेहसे उन प्रहारोंको सह गया हूँ। मुझे गर्व है, सन्तोष है कि मैंने प्रहारपर प्रहार नहीं, प्रहारपर प्यार ही किया है, पर इसमें संदेह नहीं कि ये चोट मेरी गर्मीको चाट गई है।

संघर्षमें पलने और खेलनेकी आदत रही है। कभी भय और आशंका मुझे स्पर्श भी नहीं कर पाते। संघर्ष उत्तेजना देता है और यही उत्तेजना संघर्ष लाती है, इस तरह भावनाका पारा घटना सम्भव ही नहीं होता।

फिर मैं हार क्यों गया?

मैं हार इसलिए गया कि इस संघर्षमें उत्तेजना नहीं, दीनताका पुट ही आगे और भरा रहा। मैं कुछ कहूँगा, तो उन्हें दुःख होगा, इस भावनासे मैं उस गरमीको सहता रहा, जिसे वे पूरी ताकतसे उछालते रहे और इस तरह, मेरी जीवन-शक्ति कुण्ठित होती गई।

क्या इसका कोई उपाय न था ?

उपाय था असहयोग, दीनता और हीनतासे दूर हो जाना और उन्हे अपनेसे दूर झटक देना, पर स्वभावकी गहरी ममता उन्हे दुत्कार न पाई और पुचकारसे वे अपनेको सभाल न पाये। मैंने बहुत बार सद्भावनासे दुर्भावना पर विजय पाई है, पर इस बार दुर्भावना इतनी प्रचण्ड है कि मैं उसे ममताकी आँचसे पिघला न पाया और खुद ही उसमे झुलस गया हूँ।

उनपर इसका क्या प्रभाव पडा ?

देख रहा हूँ कि मेरे मिटते जानेसे उनपर प्रभाव पडता है, पर यह प्रभाव उन्हे उनकी हीनतासे विमुख नही करता, उल्टे प्रचड होकर वे पूछते है—यह मिट क्यो रहा है ? वे उस डाक्टरकी तरह है, जो रोगको तो समझना नही चाहता, पर दवा देनेके लिए आग्रही है। वे अपनेको बदलकर मुझे पलभरमे ताजगी दे सकते है, पर यह शायद वे सोचते ही नही।

सोच रहा हूँ कि वे बदलेंगे या मैं ही करवट ले जाऊँगा और सीख रहा हूँ कि बहुत नम्रता एव कोमलताका भी यह युग नही है।"

मित्रकी डायरीमे और भी बहुत कुछ था, पर मेरे लिए अब उसकी आवश्यकता न थी, क्योकि मेरे सामने स्पष्ट था कि मित्र महाशय आत्मीयोके आत्महीन व्यवहारसे पीडित है। यह पीडा उनके लिए असह्य है, पर वे करे क्या ? और कुछ कर नही पाते, तो घुल रहे है।

[ २ ]

जानकारी पूरी हुई, तो जी-जानसे मुझे लिपटी। मेरे मित्र मिट रहे है और इस मिटनेमे उनकी ममता है आधार। इस तरह लगता है कि अपनोको महकर वे कुछ श्रेष्ठ कार्य कर रहे है, पर श्रेष्ठ कार्यका परिचय-सपर्क पाकर मनके भीतर जो चिकनाई आया करती है, वह नही आ रही और लग रहा है, जैसे यह सब कुछ शुभ नही है, सुकार्य नही है।

## सहो मत, तोड़ फेंको !

मैं मित्रके कमरेमें उनके पलंगपर पड़ा सोच रहा हूँ। सोचनेको कोई विशेष विचार केन्द्रमें नहीं है, पर वैसे विचार इतने हैं कि भीड़ लगी है विचारोंकी और उनमेंसे किसीको जानना-पहचानना ही मुश्किल है, तो पाना कहाँ?

सपनोंमें कहींकी कड़ी कहीं मिल जाती है। मैं भी इस समय ठेठ जागरणमें हूँ, पर सपनोंसे कम नहीं। मेरे भटकते विचारोंकी कड़ी भी यह लीजिए जा मिली है मेरे एक पुराने मित्रके साथ।

उनमें प्रतिभा भी है और पुरुषार्थ भी। उनमें पत्रकार-कलाके गुणोंका अनुपम विकास हुआ है और वे अपना आपा उसे दे पायें, तो एक चमत्कार कर दें। अपने राज्यकी राजनीतिके वे प्रथम पुरोहितोंमें हैं और वे राजनीतिमें ही समाये रहते, तो उस राज्यके मन्त्रि-मण्डलकी सदस्यता तक पहुँचते, पर हुआ यह कुछ नहीं और उनकी नाव एक मामूली स्कूलकी अस्थायी अध्यापकीतक ही पहुँच पाई। बातें वे भले ही सदा एक ऊँचे धरातलसे करते रहें, पर थके-थके और निचुड़े हुए, जैसे साँस चल रहे हैं और जान निकल गई। प्रतिभा यदि कोई स्थायी तत्त्व है, तो कहना चाहिए कि उनकी पैनी प्रतिभा कुण्ठित हो गई।

पत्नी सपाट है, सो कोई बात नहीं, पर अनपढ़ है और मूर्खताका ऐसा एक भी तत्त्व नहीं, जो उसमें भरपूर न हो। वह जीवनमें एक ही सफलता मानती है—पैसा और इस दृष्टिसे उसका पति एक असफल मनुष्य है—एक [illegible], जो परिवारको न पैसा दे सका, न साता।

इस विषम वातावरणमें उनके पतिकी विशेषताएँ हैं यह वह नहीं समझ सकती और नई सम्भावनाओंके लिए आज वह नये प्रयत्न नहीं कर पाता, उसका कारण उसका निरन्तर वातावरण है, जिसकी जननी वह स्त्री है,

यह उसे ब्रह्मा भी नही समझा सकता। नतीजा यह कि हर समय उसका विद्रोह भड़का रहता है—बकझक, ठोक-पटक, मारा-पीटी और आँसू उसके जीवन-सहचर हो गये है।

मेरे ये मित्र क्या करते है? प्रश्न जरूरी है और इससे भी जरूरी इस प्रश्नका उपप्रश्न कि वे इन सबको पत्नीका अपराध मानते है या अधिकार? यदि यह अपराध है, तो दण्ड चाहता है, भले ही यह दण्ड हिसाका 'लात-घूंसा कमर मध्ये' हो या अहिसाका अनशन और अधिकार है, तो यह स्वीकृति चाहता है।

सचाई यह कि आज न यह अपराध है, न अधिकार, अब तो यह उस परिवारके वातावरणका एक अग है—अनिवार्य अग, जिसे सहना है, सहे जाना है, यदि छेडकर उसे और ज्यादा बढाना न हो।

सोचनेका अवसर तब था, जब यह आरभ हुआ, पर तब मेरे मित्रने उससे टक्कर नही ली। उससे बगलगीर होनेकी, उसे सहकर शान्त करनेकी, पचानेकी चेष्टा की। निश्चय ही पत्नी समझदार होती, तो इस सहनपर नम्र पड जाती, कोमल हो उठती, पर मूर्ख थी, सो अकड गई और यहाँ तक कि लकडी हो गई—अब टूट सकती है, मुड नही सकती।

मै अक्सर देखता हूँ, मेरे मित्र अपने जीर्ण-शीर्ण शरीरसे ८-१० घण्टे काम ले, शामको ५ बजे घर आते है। आवश्यक है कि उन्हे घर आते ही चाय मिल जाय, पर उन्हे कभी अगीठी जागती नही मिलती। वे कुछ कहे, तो होहल्ला मच उठे और बकझक, ठोक-पटकका समारोह आरभ हो जाय। उनकी समझदारी उन्हे सहारा देती है। वे अगीठी जलाकर चाय बनाते है। पीते है, पिलाते है और शामके भोजनकी तैयारीमे पत्नीको सहयोग देते है—इसे शान्त रहनेकी रिश्वत समझिए।

'इसका जी दुखी न हो' और 'यह किसी तरह शान्त रहे' बस इसी

धुरीपर उनकी जीवनचर्याका चक्र घूमता रहता है। दूसरोंके दिल न दुखनेका धुवाँ जैसे उन्हें घेरकर घोंट रहा है।

[ ३ ]

इन मित्रकी बात पूरी हुई है, तो फिर उन्हीं मित्रकी बात सामने आ गई है और यह लीजिए, दोनों मित्रोंकी बात रल-मिलकर अपनेमें एक हुई जा रही है, जैसे ये दोनों दो न होकर एक ही हों। दोनों मिलकर जैसे एक ही स्वरमें मुझसे पूछ रहे हैं—यह जो हम इतने समयसे अपनोंके अत्याचार चुपचाप सह रहे हैं, हमारी किसी निर्बलताका दण्ड है या ममताका यज्ञ? और मेरे भीतर जैसे कहींसे उनके प्रश्नके उत्तरमें एक नया प्रश्न गूंज रहा है—किसीकी दुष्टता, मूर्खता या निर्बलताको सहना पाप है या पुण्य?

प्रश्न एककी जगह दो हो गये हैं, पर दोसे सौ भी हो जायें, तो क्या; प्रश्नका उत्तर प्रश्न तो नहीं है। मुझे समाधान चाहिए, तो पड़ा हूँ मैं बिस्तरपर अपनी देहसे और जाने कहाँ-कहाँ घूम रहा हूँ अपने मनसे। घूमते-घूमते मैं अपने जीवनके एक बीते समयके बीचसे निकल गया हूँ—और तब मेरे सामने आ गया है वह सूत्र, जो उस समयमें एक दिन मेरे हाथ आ गया था। लगता है कि उस सूत्रमें इन प्रश्नोंका समाधान है।

वह सूत्र यह है—तुम जिन साथियोंमें, समाजमें, दोस्त-यारोंमें, बाजारोंमें, [illegible] में जुटे हो, जुड़ रहे हो, वह तुम्हारे लिए ठीक हैं या नहीं, साथ रखने लायक हैं या तोड़ देने लायक, इसकी कसौटी यह है कि तुम यह देखो कि उन साथियोंसे, दोस्त-यारोंसे, तुम्हारी मानसिक शक्ति—भीतरी शान्ति, सन्तुलन, आनन्द और विश्वास—बढ़ रही है या घट रही है?

यदि इन सम्बन्धोंसे तुम्हारी भीतरी, मानसिक, आत्मिक [illegible] उत्तर [illegible] घट रही है, तो [illegible] हो या [illegible], [illegible] हो या [illegible], तुम अपनी

जगह खडे रहो, अपनी धुनमें जुटे रहो, हारकर भी जीतोगे, खोकर भी पाओगे, पर यदि तुम्हारी मानसिक शक्ति घट रही है, तो उस काममें लाभ ही लाभ लग रहा हो या विजयपर विजय सामने दीख रही हो, उसे तुरत छोड दो और इस बारेमें न किसीका परामर्श लो, न कहना मानो, बस तुरत उससे हट जाओ, उसे छोड दो, भले ही लोग इसके लिए तुम्हे लाछित करे, कायर कहे, तुम्हारी खिल्ली उडाएँ।

ऐसा लग रहा है कि मै प्रश्नोंके भँवरसे निकलकर साफ-सुथरे तटपर आगया हूँ और वहाँसे साफ देख रहा हूँ कि मेरे इन मित्रोने प्रेमसे, ममतासे, उदारतासे, दयासे, सहिष्णुतासे, बुद्धिमत्तासे जो कुछ सहा है, उससे उनकी शक्ति नही बढी है, अरे भाई, साफ-साफ यह कि घटी है, तो वह सब पुण्य नही था, धर्म नही था, सुकार्य नही था।

मुझे खुशी हो रही है कि मै कुछ पा गया हूँ—कुछ कीमती चीज, कामकी चीज, निराली चीज और उस चीजकी मै जो छाड-पछोड कर रहा हूँ, तो मेरे मनमे उभर रहा है यह पूरक सत्य—'जब अपने घरमें, जीवनमें, वातावरणमें, अपने विरुद्ध कोई प्रतिवादी तत्त्व जागे, उभरे या बाहरसे आये, तो उसके पनपते-न-पनपते स्वय पच जानेकी भोली कल्पना न करो, उसे धो-मांजकर हो या झकझोरकर समो दो और यो सब काम छोडकर वातावरणको शुद्ध, साफ और सम कर लो।

यह सभव है कि उस प्रतिवादी तत्त्वके विरुद्ध मनमे क्रोधकी प्रतिक्रिया उपजे और एक क्रूर आक्रमणके साथ उसे मिटा देनेकी भावना जग उठे, अपनेमे उसे मिटा देनेकी ताकत महसूस हो, तब भी उससे बचो, यही श्रेयस्कर है, क्योकि वृत्तियोकी प्रचण्डता विरोधीको चोट पहुँचाये या नही, जिस हृदयमें वह घुमडती है उसे अवश्य क्षत-विक्षत कर डालती है।

यही यह भी—सभव है कि उस प्रतिवाद तत्त्वके सवन्धमे कोमलताकी प्रति-

क्रिया मनमें उपजे और एक नरमीके साथ उसे सह जानेकी भावना जाग उठे, अपनेमें उसे सहते रहनेकी ताकत भी महसूस हो और सफलतामें १०० फी सदी विश्वास हो, तब भी उससे बचो, क्योंकि वृत्तियोंकी दीनता विरोधीको चोट पहुंचाये या नहीं, जिस हृदयमें वह पनपती है, उसे अवश्य मलीन कर डालती है।

इसलिए, क्रूरता और दीनता, दोनोंसे बचो और प्रतिवादी तत्त्वको अपनेसे तोड़कर दूर फेंक दो, उससे दूर हो जाओ। उससे असहयोग कर दो; यदि सत्याग्रह करके उसे नमा नहीं सकते, पचा नहीं पाते !

अपने दुःखित मित्रकी डायरी पढ़कर, उनके दुःखको जान-समझकर, जो कुछ सोचा है, वह सब संक्षेपमें उनसे कह दिया जाये, यह भाव मनमें आता कि यह सूत्र बना—'दूसरेकी कमजोरीको सहना, उसे दूर करनेका उपाय करना, जीवनका उत्थान है, पुण्य है, पर इसके लिए अपनेमें कमजोरी लानी पड़े, तो यह पतन है, पाप है, अकार्य है। दूसरे शब्दोंमें किसीकी हीन वृत्तिको अपनी उच्च वृत्तियोंसे टक्कर ले लेना सत्कार्य और स्वयं ही उसके लिए हीन वृत्तियोंमें घिर जाना असत्कार्य है। साफ शब्दोंमें हम उठकर, सुधरकर, भले ही किसीको उठा सकें, सुधार सकें, पर स्वयं गिरकर तो हम यह नहीं कर सकते !

सन्त कबीरने शायद इसी सत्यको अपनी भाषामें यों कहा है—"तजो रे मन, हरि बिमुखनको संग।"

# मैं भी लड़ा, तुम भी लड़े, पर जीता कौन ?

[ १ ]

मेरे एक अभिन्न मित्र थे—थे इसलिए कि अब वे इस दुनियामें नही है। हम दोनो आपसमे इतने घुल-मिल गये थे कि दो होकर, दो दिखाई देकर भी, दो न थे।

दुनियाका स्वभाव है कि ऐसा मेल उसे भला नही लगता और इस दुनियामे ही कुछ है, जो मौकेकी तलाशमे रहते है कि कब इनके मनो खटाई पडे।

मेरे मित्रकी पत्नी मर गई और मेरे कुटुम्बकी एक कन्याके रिश्तेको लेकर हम दोनोमे खासा खिचाव आ गया। मैने कोशिश भी की, पर खिचाव यही नही कि ढीला नही पडा, यह भी कि उसमे दिन-दिन तनाव आता गया। अब हमारा मिलना-जुलना और बोलचाल भी बन्द। यारोने इसका लाभ उठाया और उन्हे अपने हाथोमे ले लिया।

एक दिन विश्वसनीय समाचार मिला कि वे मुझपर यह दीवानी दावा करनेवाले है कि मैने उनकी स्वर्गीय पत्नीका धरोहर रक्खा ३०००) का जेवर मार लिया है। सुनकर गुस्सा भी आया, हँसी भी आई।

समयकी बात उसी दिन शामके झुटपुटेमे मुझे मिल गये वे और बच-कर— आँख बचाकर—एक तरफको निकलने लगे, पर मै क्यो चूकता। मै उनके सामने जा टिका और कन्धे हिलाकर उनसे कहा—"अरे भाई, अभी तो दावा ही लिखा गया है, अभीसे बचकर निकलने लगे, तो आगे क्या करोगे ? हमने तो यहाँतकका इरादा बाँध लिया है कि मुकदमा जमकर लडेंगे और तुम्हे ही जेल भिजवाकर हटेंगे, पर मित्रताका तकाजा

तो यह है कि तुम्हें जेल हो जाय, तो मैं तुम्हारी और तुम्हारी बच्चोंकी खबर रक्खूं और मुझे जेल हो जाय, तो छूटनेके दिन तुम ही दरवाजेपर मिलो, पर तुम तो अभीसे साथ छोड़ रहे हो!"

सुनकर उनका खून जम-सा गया। मेरा हाथ पकड़कर बोले—"अच्छा चलो" और घर पहुँचते ही मेरे पैर पकड़कर रोने लगे। मैं भी रो पड़ा और संक्षेपमें बात यह हुई कि हम दोनों फिर ज्यों के त्यों एक हो गये।

[ २ ]

मेरे एक दूसरे मित्र हैं—डबल एम० ए० और कॉलिजके प्रोफेसर! नगरमें उन दिन एक सम्मेलन था। वातावरण असफलताका था, पर मेरे कहनेसे प्रोफेसर साहबने खुद शहर भरमें ऐसा रसीला ऐलान किया कि हवा बन्ध गई।

सम्मेलन सफलताके किनारे छू गया, पर जब स्वयं प्रोफेसर साहब माइकपर आये, तो एक दुर्घटना हो गई कि वे कुछ कह रहे थे और मैंने उन्हें संक्षेप करने को कहा, तो वे भड़क उठे। यह भड़क मुँह बनाकर ही न रही, यहाँतक मुँह खुला बैठा कि मैं उनकी गालियोंका शिकार और गालियाँ भी मामूली नहीं, नम्बरी जन्नाटेदार!

लाउड स्पीकर निर्विकार निरन्तर और उसने उन्हें भी फैला दिया। श्रोता सन्नन, तो स्वागी भजनन, पर मैंने तुरन्त उन्हें माइकके पाससे हटा-कर एक कुर्सीके गलेकी गलबहियोंको वहीं खड़ा कर दिया।

सम्मेलनके नायक चाहते कि प्रोफेसर मुझसे माफी माँगें। वातावरण फिरसे गरम होनेको ही था कि मैंने कहा—"जब मुझे यह अधिकार है कि मैं उन्हें संक्षेपनका ऐलान करनेको कहूँ, तो उन्हें भी यह अधिकार क्यों नहीं

है कि गुस्सा आ जाए तो चार कडवी बात कह ले ?" फिर यह मेरी उनकी व्यक्तिगत बात है, कोई सार्वजनिक मसला नही !

बात समाप्त हो गई, पर कई दिनतक मेरा मित्र प्रोफेसर मेरे पास न आया। मेरी तबियत खराब थी, इसलिए मैंने उसे एक कार्डपर ये पंक्तियाँ लिख भेजी—

मैंने तो समझा था नखरा,
पर यह निकला गुस्सा,
नखरेपर बलि जाऊँ तेरे,
गुस्सेपर दूं घुस्सा !
नखरा है, तब भी झट आओ,
तुमको चाय पिलाऊँगा,
गुस्सा है, तब भी आओ तो,
चप्पलसे चमकाऊँगा !

दूसरे दिन कॉलेजमें उन्हें यह पत्र मिला, तो समय काटना, कहते थे उन्हें भारी हो गया और छुट्टीका घण्टा बजते ही सीधे मेरे पास आये। मुझे पता था ही कि वे आयेंगे, तो बस आते ही उन्हे गरम चाय तैयार मिली।

वे माफीकी भूमिका बाँधने लगे, तो मैंने कहा—"इस भूमिकामें क्या रक्खा है भाई, अब तो चायकी पुस्तकका रसपान कीजिए।"

चाय पीकर बोले—"उस दिन बडी बेवकूफी हो गई भाई साहब !"

मैंने आँखें तरेरकर कहा—"किससे ?" और बस हम दोनो हँस पडे।

[ ३ ]

उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक हो रही थी और पूज्य टण्डनजी सभापति थे। गांधी-इरविन समझौतेके दिनोकी बात है। टण्डनजी किसी

कामसे दस मिनटके लिए बाहर गये, तो उपसभापति पं० जवाहरलाल नेहरू उनके आसनपर आ गये।

किसी रूलिंगकी बात चल रही थी और बातोंमें गरमी आ रही थी कि श्री महावीर त्यागीने एक विधान-ग्रन्थ खोलकर उनकी मेजपर रखते हुए कहा—"देखिए पेज नम्बर साठ, आप रूलिंग देनेके लिए बाध्य हैं!"

तकाजा और प्रतिवाद जवाहरलालके स्वभावको पचते नहीं। उनकी आँखें तन गईं और नसोंमें बहता खून दौड़ चला—पेन्सिलकी नोकसे किताबको मेजसे नीचे फेंक, वे बोले—"मैं ऐसी ६० किताबें रोज लिख सकता हूँ।"

त्यागीजीने इसे अपमान माना कि उनके मुँहसे निकला—"यह सभापतिजीकी ज्यादती है और ऊपरसे वे किताब फेंक सकते हैं, तो इधरसे भी कुछ फेंका जा सकता है; सम्हल··!"

धौंससे कहे उनके अन्तिम शब्दने, जिसमें क और साफी मात्रासे छूटे सिर्फ दो ही अक्षर थे, पूरे भवनमें हड़कम्प मचा दिया और दोनों तरफसे सिर एक साथ निकल उठे—माफी माँगिए—माफी माँगिए।

मेज पीटनेका वातावरण फिर पीटनेके वातावरणसे भी रुद्र हो उठा कि तभी लौट आये टण्डनजी अपने दोनों कन्धोंपर आदमका हौसला-सा लिये हुए। अब दोनों तरफके साथी उन्हें अपना-अपना पक्ष समझानेको बेचैन कि जवाहरलालने कहा—"मेरे और त्यागीके बीच यहाँ कुछ निजी बातें हो गई हैं, पर मैं समझता हूँ कि यह मुनासिब होगा कि हम इस मसले-पर विचार न करें, जिसपर पहलेसे बात हो रही थी। मेरा ख्याल है कि त्यागी भी इससे मुत्तफिक होंगे!"

त्यागीजी ऐसेमें मुत्तफिक न होते, तो क्या करते! मीटिंगके बाद खीझते हुए लोगोंने त्यागीसे कहा कि इस घटनापर विचार हो,

पर तभी उन्होंने देखा कि जवाहरलालजी त्यागीका हाथ पकड उन्हे अपनी मोटरमे बैठा ले गये हैं।

[ ४ ]

ये हुए तीन सस्मरण, पर तीन होकर भी जैसे एक ही तो; क्योंकि नाम-रूपकी भिन्नतामे भी बात तो इतनी ही है कि दो मित्र आपसमें दूध-मिश्रीसे मिले, एक दिन आ गया गुस्सा और हो गये नीम—बस दोस्ती खत्म और बोलचाल बन्द, यानी हो गई लडाई।

हांजी, लडाई तो हो ही गई, पर प्रश्न तो यह है कि अक्ल बडी है या भैस? और सचमुच अक्ल ही बडी है, तो इस पहले प्रश्नमेसे यह नया सवाल-भी पैदा होगा ही कि यह क्या बात है कि जो आज मिश्री है, वे कल नीम हो जाएँ और जो एक दूसरेसे मिले बिना, आज भोजन नही पचा पाते, वे कल एक दूसरेकी सूरत देखनेसे भी बेजार हो उठें?

यह गुस्सेकी काली करामात है और गुस्सा है आदमीकी मजबूरी। बडे-से-बडा क्रोधी भी नही चाहता कि उसे क्रोध आये, पर वह आता है और ऐसा आता है कि आदमी भूत हो जाये।

मान गये कि आदमीको गुस्सा आयगा ही और दो मित्रोमें आपसी लडाइयाँ भी होती रहेंगी ही, इसलिए यहाँ प्रश्न यह नही है कि गुस्सा क्यों आये, प्रश्न यह है कि गुस्सा जब आ ही जाये, तो हम क्या करें?

इस जरूरी और महत्त्वपूर्ण प्रश्नका उत्तर पहले दो सस्मरणोमें है कि यदि दुर्भाग्यसे दो मित्रोमेंसे किसी एकको गुस्सा आ ही जाय, तो यह क्यो जरूरी हो कि दूसरा भी आपेसे बाहर हो? क्या हम किसीको मैले कपडे पहने देखकर अपने साफ कपडोपर धूल डालते है? किसी लगडे या काने को देखकर अपनी टाग तोड लेते या आँख फोड लेते हैं?

नहीं, हम ऐसा नहीं करते। यह ठीक भी है, तो फिर अपने मित्रको गुस्सा आ जानेपर हम स्वयं भी आग-बबूला होना क्यों जरूरी समझते हैं?

जब हमारे मित्रको गुस्सा आता है, तो क्या यह कोई अच्छी बात होती है? नहीं, तो फिर हम एक बुरी बातकी नकल क्यों करें? उन्हें गुस्सा आ गया, तो आ गया, पर आप यत्न करके, उसे मित्रकी एक मजबूरी मानकर चुप रहिए, शान्त रहिए, मधुर रहिए और इस तरह अपने मित्रकी मदद कीजिए।

[ ५ ]

'और क्यों जी, जो दूसरेके गुस्सेको देखकर या बातचीतमें दूसरेके साथ ही साथ हमें भी गुस्सा आ जाए, तो क्या करें?"

प्रश्न उचित है, आवश्यक है, क्योंकि सोच विचारकर तो किसीको गुस्सा आता नहीं। कहा नहीं कि यह तो आदमीकी एक मजबूरी है और मजबूरीपर काबू पाना अभ्यासका, साधनाका विषय है, इसलिए गुस्सा हमें भी आ ही जाए, तो हम क्या करें?

इस प्रश्नका उत्तर तीसरे संस्मरणमें है कि गुस्सा आ गया; लड़ लिये और लड़ लिये कि बस फिर एकके एक हो गये।

गुस्सा आया, लड़ लिये और गुस्सा उतरा कि बस ज्योंके त्यों, यह एक मनुष्यका चित्र है।

गुस्सा आया लड़ लिये और गुस्सा उतरा कि एक दूसरेको मिटानेमें जुट गये, यह एक भेड़ियेकी तस्वीर है।

गुस्सा आनेपर, गुस्सेमें गाली-गलौज, मार-पीट तक कर लेनेपर भी आदमी आदमी ही रहता है, पर गुस्सा उतर जानेपर भी गुस्से जैसा ही व्यवहार करनेसे आदमी भेड़िया हो जाता है और जो दूसरेको गुस्सा आनेपर भी

खुद शान्त रहे, गुस्सा न करे, तो आदमी देवत्वकी ओर बढने लगता है। आप आदमी है, उन्नति कीजिए, देवता बनिये, पर ऐसा न कर सके, तो कम से कम आदमी तो बने रहिए।

[ ६ ]

और क्यों भाई, हम आपसमे लडते क्यो है? लडाईकी पृष्ठभूमि है प्रतिद्वन्दिता और उसका उद्देश्य है दूसरेको, सामनेवालेको, प्रतिद्वन्दीको हराकर उसपर विजय पाना।

अच्छा, इस विजयकी कसौटी क्या है? मै युद्धशास्त्रकी बात नही करता, आपसी लडाइयोकी बात करता हू, जो बातो-बातोमे छिड जाया करती है।

लडाई मेरी भूलसे शुरू हुई या आपकी, वह हो गई, बज गई और खूब बजी। दोनोने अपने हाथ दिखाये, किसीने कसर न छोडी, अब प्रश्न यह है कि तुम भी लडे, मै भी लडा, पर जीता कौन?

क्या वह जीता, जिसने ज्यादा गालियाँ दी या ज्यादा हाथ मारे? ना, मै उसे विजयी माननेसे इन्कार करता हूँ और कहना चाहता हूँ कि जीता वह,जो गुस्सा उतरनेपर, शान्त होनेपर, विवेकके जागनेपर और यह सोचनेपर कि बडी बेवकूफी हो गई, जो गुस्सेके चक्कर चढ-घूमे, न झिझकमे पडता है, न सकोचमे और सीधा उसके घर पहुँचता है, जिससे लडाई हुई थी और कटवाहटको मिठासमे बदलकर वातावरणको फिरसे सम कर देता है।

अपने मित्रोमे कभी अपनी ओरसे लडाईकी हवा न आने दीजिए, आपके किसी मित्रको गुस्सा आ ही घेरे, तो स्वय शान्त रहिए, बातको तरह दीजिए, टाल दीजिए और आपको भी गुस्सा आ ही जाए तो लड लीजिए, पर गुस्सेके उतरते ही मित्रके पास पहुँचिए और चाय पीकर ही उठिए।



# एक तस्वीरके दो पहलू !

[ १ ]

मैं एक जगली नागरिक हूँ। जगली नागरिक कि रहता हूँ नगरमें, खाता-पीता और जीता हूँ नगरमें, पर जीनेका रस मुझे मिलता है जगलोंमें, खेतोंमें, उपवनोंमें, झीलोंमें पर्वतोंमें। जगलमें बैठकर, प्रकृतिके साथ मिलकर, बातें करना, हँसना, खेलना मेरे जीवनका एक खास शौक है।

मेरे मित्रोंमें और परिवारमें ऐसे भी लोग हैं, जो मुझे मेरे इस स्वभावके कारण घुमक्कड़ कहते हैं और ऐसे भी, जो बातचीतमें घुमाव-फिराव पसन्द नहीं करते और सीधे-सीधे मुझे आवारा कहते हैं। इन दोनोंकी तरह-तरहकी सलाहोंमें यह है—"अरे भाई, बैठना-उठना चार साथी-मित्रोंमें; यह क्या कि जगलमें रुकने जा पड़े!" उन्हें समझानेको कभी मैं कहता हूँ कि भाई, जगलमें जाकर भी जो अपनेको अकेला महसूस करे, उससे अधिक अभागा कौन होगा, तो वे इस तरह हँसते हैं कि मैंने जैसे कोई एकदम पागलपनकी बात कह दी हो।

सो जगलोंमें घूमना और यों कहूँ कि नित-नये जगलोंमें घूमना मेरा स्वभाव है। उस दिन घूमने निकला, तो जा निकला बन्दरोंके बागमें। वहां सैकड़ों बन्दर रहते हैं। वे क्या खाकर जीवनयापन करते हैं, मैं नहीं जानता, पर वहां मेरे जैसे कितने ही लोग दो-चार पुराने विचारोंके सज्जन वहां आते और उन्हें कुतूहलता का नमक चना और गुड़ अवश्य मिल जाते हैं। पता नहीं उन्हें जगल मोतियाखोरोंमें क्या फल मिलता होगा, पर यह अवश्य है कि बन्दरोंका वानरदल न तो मनुष्योंसे डर ही सकता है और न भय ही

खाता है। पालतू पशुकी तरह प्रेमके मधुर पाशमें बँधकर हिल-सा गया है।

मैं एक वृक्षकी छायामें बैठ गया और संस्कृतका मधुर प्रेमाभिनय 'मालती-माधव' पढने लगा। अद्भुत रचना है। मालतीकी आतुरता, माधवका उत्कट अनुराग, मकरन्दकी प्रेमपूर्ण चातुरी और मदयन्तिकाकी लाजभरी प्रेम-मुद्राएँ पाठकको कोलाहलपूर्ण विश्वसे उठाकर प्रेमके उल्लासमय विश्वमें पहुँचा देती हैं। पढते-पढते मैं झूम-झूम उठा, खो-खो गया और एक ही प्रकरणको बार-बार पढने लगा। देह शिथिल हो गई। आँखोंमे नशा-सा छा गया। यह दुनिया ही निराली है।

[ २ ]

नशा जरा ढीला पडा, तो मेरा ध्यान वानरदलकी ओर चला गया। वे अपने ही रागमें मस्त थे। एक वृक्षके नीचे कुछ वानर-शिशु आपसमें खेल रहे थे। एक बच्चा दूसरेकी पीठपर चढने लगा, तो तीसरेने उसकी पूंछ पकडकर खीच ली। जिसकी पूंछ खीची गई थी, उसने उलटकर खीचनेवालेका कान काट लिया।

एक बच्चा पासके छोटे-से वृक्षपरसे नीचे उतरा और उसने इन खेलते बच्चोमेंसे एकका मुंह चूम लिया। उस छोटे शिशुने भी उसका मुंह चूमना चाहा, पर अपनी लघुताके कारण वह असफल रहा। दो-तीन बच्चोंने यह बात भांप ली और उस बडे बच्चेको बलपूर्वक पकड, धरतीपर लिटा दिया। छोटे शिशुने यह देखा, तो उसने लौटकर तडातड उसे चार बार चूमा और पेटपर एक मीठी कटौती भी काटी। अब वह फुदककर नीचेसे उठा और उनमेंसे एकको गुदगुदाकर फिर पेडपर चढ गया। प्यारमे हार भी जीत है, जीत भी हार है। चारो ओर शैशवका साम्राज्य-सा छा गया—चारो ओर सरसता बरस-बरस गई।

[ ३ ]

एक दूसरे वृक्षके नीचे एक वानरमाता अपने दो शिशुओंको सुलानेका प्रयत्न कर रही थी। हाँ, उसीके होंगे दोनो, पर वे अपनी बालसुलभ चचलताके कारण इधर-उधर उछल-कूद मचानेकी चेष्टामें थे। माँ जबतक एकको थुमकारकर सुलानेका प्रयत्न करती, तबतक दूसरा उठ दौड़ता और जब वह दूसरेकी ओर दौड़ती तो पहला अपनी बालक्रीडा आरम्भ कर देता। जैसे-तैसे जबतक वह एकको हाथोंमें दबोच पाती, तबतक दूसरा उसकी कमरपर चढ़, उसे धराशायी करनेके विफल, पर अत्यन्त अन्य-[illegible]पूर्ण प्रयत्नमें जुट पड़ता। माँ अत्यन्त व्यस्त थी और यों भी कि परेशान थी, पर उसके मुखमण्डलपर झुँझलाहटका कोई चिह्न न था।

[ ४ ]

एक तीसरे तरुकी शीतल छायामें एक वानर-दम्पति पृथक् ही अपने प्रेमका वितान तन रहे थे। वानरी पैर फैलाये बैठी थी और वानर उसकी एक जंघापर अपना मस्तक रखे, मीठी नींद ले रहा था। उसका एक हाथ वानरीके सम्पूर्ण कटि भागको अपनेमें लपेटे था, मानो किसी [illegible] मूर्तिमान आशीर्वाद किसी विपदग्रस्त अबलाकी रक्षा कर रहा हो। वानरीका दक्षिण हस्त किसी देवताके वरदहस्तकी भाँति वानरके ललाट प्रदेशपर विराजित हो रहा था। वानरके मुख-मण्डलपर सात्विक शान्तिकी सरल आभा मुग्ध सौन्दर्य [illegible] प्रकाश[illegible]के साथ छिटक रही थी और वानरी-की [illegible] एक मादक आँखोंमें प्रोद्भासित हो रहा था प्रेमका पूर्ण प्रति-बिम्ब; मानो आकाश [illegible] चन्द्रकी विमल ज्योत्स्नासे प्रकाशित [illegible] दो सुन्दर कटोरोंमें निर्मल ओस-बिन्दु प्रो[illegible] हो रहे हों।

[illegible] आनन्द [illegible] विभूति है। [illegible]

प्रेमसे यह अनुप्राणित होता है और विश्वासके बलसे पाता है यह सम्बल। आत्मनिवेदनका यह सजीव चित्र है और प्रकृति-पुरुषके सम्मिलनका पुण्य प्रतिबिम्ब।

[ ५ ]

चारो ओर प्रेमका यही साम्राज्य छाया हुआ था। पशु-उपाधिवाले इस वानर-जीवनसे मै बहुत प्रभावित हुआ। सोचने लगा—इनमें परस्पर कितना प्रेम है। इनका जीवन कितना सरल है। न ईर्षा, न द्वेष, न दूसरोको गिराकर स्वय आगे बढनेकी पतित भावना। प्रकृतिकी पुनीत गोदमें ये अलग ही अपनी दुनिया बसाये बैठे है। मै कविके कल्पित प्रेम-जगत्से कपियोंकी इस प्रत्यक्ष दुनियाका तुलनात्मक विवेचन करता हुआ अपने घरकी ओर चल पडा।

मै पहले भी कई बार यहाँ आया था, पर आजके इस निरीक्षणसे वानर-दलके प्रति मेरे हृदयमे एक प्रकारकी आत्मीयता हो आई। फलत आज यहांसे चलते समय मैंने हृदयमे एक मीठी कसकका अनुभव किया।

निजत्व क्या है? इसका उद्गम कहाँ है? इसमें इतना आकर्षण क्यो है? जीवनके अन्वेषणीय रहस्यसे अनुप्राणित इन प्रश्नोका समाधान दो हृदयोकी अनुकूलता एव विराटके साथ सूक्ष्मकी एकत्व आकाक्षामे सन्निहित है, पर इसे हृदयकी मूक भाषा समझनेवालोंके अतिरिक्त कौन अनुभव करेगा?

[ ६ ]

मै अपनी विचार-वाटिकामे एकाकी विहार करता हुआ धीरे-धीरे घरकी ओर आ रहा था। अचानक कही पास ही वानरदलकी क्रोधभरी खोखोने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। आंखे ऊपर उठा, मैंने जो दृश्य

देखा, उसने मुझे स्तब्ध कर दिया, मैं अवाक् रह गया!

एक जालीदार गाड़ीमें पचास-साठ वानर बन्द थे। सभीके मुख-मण्डलपर क्रोधकी कठोरता ताण्डव कर रही थी। एक दूसरेको फाड़ खानेको तैयार था, सभी घायल थे, सभी क्षुब्ध!

गाड़ीवानने बताया—"ये सुन्दरपुरसे पकड़कर हरद्वारके जंगलोंमें भेजे जा रहे हैं।"

मेरे कहनेपर गाड़ीवानने गाड़ी ठहरा दी। मैं और भी पास आ, उन्हें गौरसे देखने लगा।

देखा—एक वानर शिशु, जिसके सूखे मुखपर भूखकी दीनता बरस रही थी, दूध पीनेकी इच्छासे अपनी माताकी गोदकी ओर बढ़ा, पर समीप आते ही माताने उसे नोचना प्रारम्भ कर दिया और फिर तो उसका मस्तक अपने दोनों हाथोंमें दबाकर इस तरह नचाया कि खून बह निकला, बच्चा चिल्लाया, तड़पा, पर माँके हृदयपर उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ।

मातृत्वके साथ पैशाचिकताका ऐसा मर्मभेदक संयोग देखनेका मुझे कभी अवसर न मिला था। मेरी अन्तरात्मा काँप उठी। मैं इससे अधिक देखनेका साहस न कर सका।

यदि सागर ही शुष्क हो जाये, उससे ही धूल उड़ने लगे, तो अन्यत्र जलप्राप्तिकी आशा कौन मूर्ख करेगा? मातृत्वमें भी यदि निर्दयता निवास करने लगे, तो जीवनमें किसी अन्य स्रोतसे स्नेह या सरसतावल्लरीके पुष्पित होनेकी संभावना कौन सहृदय करेगा?

गाड़ीवानको प्रस्थानका संकेत देनेपर, मैं चल पड़ा। दूरतक वानरोंके चीत्कारका भीषण निनाद मुझे सुनाई देता रहा।

यह दृश्य मेरे पूर्व परिलक्षित दृश्यसे बिल्कुल प्रतिकूल था, या कहिए—ये दोनों एक ही तस्वीरके दो पहलू थे!

मै सोचने लगा—जो प्राणी उपवनमे प्रेमकी पुनीत प्रतिमा, सरसताकी सुन्दर निधि और स्नेहका सागर है, वही गाडीमें बैठकर दानवताका अवतार, क्रोधकी ज्वालामुखी एव हृदय-हीनताकी मूर्त्ति कैसे हो गया ?

हृदयमें एक हूक उठी—स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यमे यही तो अन्तर है ! !

# जी, वे घरमें नहीं हैं !

यह भी अच्छा बहाना है, जी हाँ यह भी अच्छा बहाना है, पर अच्छा बुरा तो बादमें देखा जाएगा, पहले यह तो बताइए कि यह बहाना क्या चीज है ?

अरे, आप यह भी नहीं जानते कि बहाना क्या चीज है। उसे तो छोटे-छोटे बच्चे भी जानते हैं। आप भी कमालके सवाल पूछते हैं भाई साहब ! मेरा छोटा पुत्र अभी छः सालका है। उस दिन वह मेरी जेबमें हाथ डाल रहा था कि अचानक बाहरसे मैं आ गया। मुझे देखते ही बोला पिताजी, देखिए आपकी जेब फट रही है, इसमें पैसे न डालिएगा, नहीं तो निकल पड़ेंगे। मैं अवाक् उस छोटेसे बच्चेकी तरफ देखता रह गया कि क्या बहानेकी पट्टी पढ़ाई है बेटेने मुझे। अब चपत मारना तो दूर, घुड़की देनेका भी तन्त्र बिगड़ गया और मुझे कहना पड़ा कि बेटा, अपनी माँसे कहना कि इसकी मरम्मत कर दे। बेटा जान उस समय शायद सोच रहे होंगे कि जेबकी मरम्मत तो बादमें होगी, इस समय तो हमने तुम्हारी ही मरम्मत कर दी।

यह है बहाना और आप पूछ रहे हैं कि बहाना क्या चीज है ? और हाँ, आप मुझसे यह सब क्यों पूछ रहे हैं। आप श्रीमती शान्ती जीके यहाँ तो अक्सर जाते रहते हैं। वे इस कलाकी पूरी पण्डित हैं। आप चाहें, तो वे इस कलापर भाषण दे सकती हैं। याद नहीं, उस दिन हम लोग उनके घर बैठे थे। उनके पतिका स्वभाव उदार है और दूसरोंको खिला-पिलाकर वे खुश होते हैं। उन्होंने धीरेसे कहा—सब लोगोंके लिए थोड़ी चाय तो बनाओ।

सुनते ही श्रीमतीजीका दिमाग छछून्दर हो गया और उन्होंने ऐसी गरमी आँखोंसे उन्हें घूरा कि जैसे उन्होंने अपनी नई शादीका ही प्रस्ताव

किया हो, पर छोटे मियाँ सो छोटे मियाँ, बडे मियाँ सुभान अल्लाह, उनके पति भी पूरे औघड निकले और ज़रा ज़ोरसे वोले—हाँ भई, चाय-वाय तो बनवाओ।

श्रीमतीजीका पारा १०५पर पहुँच गया। ठीक भी है अभी तक तो चाय ही थी अब उसमें वाय और लग गया। चायके साथ वायका मतलब है पकौडी।

उस दिन पार्टीमे वकील साहब भी थे। वे ऐसे मौकोंकी तलाशमें ही रहते हैं। अपनी दार्शनिक मुद्रामें वोले—हाँ भाई, पडितजीका प्रस्ताव तो त्रिपुरी कांग्रेसके पन्त-प्रस्तावसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, हम लोग इसका वहु सम्मतिसे नही, सर्व सम्मतिसे समर्थन करते हैं।

श्रीमतीजीने देखा कि अव मामूली दवा काम नही दे सकती। उन्होने भैयाजीकी तरफ देखा। भैयाजी हर घडी कोई न कोई गोरखधन्धा बाँधनेमें मास्टर हैं। दोनोमे इशारे हुए और तब श्रीमतीजीने कहा—चलिए, मैं आज आप लोगोको गुलाब रेस्टोरेन्टमें चाय पिलाऊँगी। वकील साहबने उत्फुल्ल होकर इस प्रस्तावका भी समर्थन किया और सब लोग उठ चले, पर श्रीमतीजी ऐसे रास्तेसे चली कि वकील साहबका घर रास्तेमें पड गया। वे सबको लिये उसमें घुस गईं और उनके पुरुषार्थसे चाय-वाय ही नही, मामला हलवेतक पहुँच गया। वकील साहब वहुत कुलमुलाये, पर उनकी एक न चली।

यह वहानेका एक उत्तम उदाहरण है। कहिए, अव भी आप समझे या नही कि वहाना क्या चीज़ है ?

"जी, खूब समझ गया। सचमुच आप जैसा समझानेवाला बडे भाग्यसे मिलता है, पर ऐसा मालूम होता है कि आपकी राय यह है कि जब भगवान्‌के यहाँ वुद्धि वट रही थी, तो आप अगली पक्तिमे थे और मैं सो रहा था।

क्या बहानेके तुक्के उड़ा रहे हैं आप। मेरा प्रश्न यों फुर्र होनेवाला नहीं, जरा गहरा है। मैं पूछ रहा था कि यह बहाना आखिर है क्या चीज, पर आप क्या समझेंगे इस बातको। लीजिए, मैं ही बता रहा हूं, आपको अपने प्रश्नका उत्तर—बहाना एक पर्दा है।"

"पर्दा? बहाना एक पर्दा है।"

"जी हां, बहाना एक पर्दा है, पर घूंघट या बुर्केका पर्दा नहीं, सचाई और मनुष्यके बीचका पर्दा है यह। नहीं समझे आप। समझें भी कैसे। आखिर आपकी अक्ल सीमेंटकी चादर-सी नहीं, लाल किलेकी दीवार-सी मोटी है। अरे भाई, मनुष्य जब सचाईका सामना नहीं कर पाता, तो बहानेकी, पर्देकी, आड़ लेता है।

लो, यों समझो कि रामलालने झज्जासिंहसे १००रुपये हाथ उधार लिये कि ६ फरवरीको लौटा दूंगा। आज है ६ फरवरी। झज्जासिंह अपने रुपये मांगने रामलालके घर आया, पर रुपयोंका अभी वहां प्रबन्ध नहीं। अब सचाई यह है कि रामलाल झज्जासिंहसे अपनी मजबूरी कहे और कुछ समय रुकनेकी प्रार्थना करे, पर इस सचाईके सामने आने उसे आती है शर्म, तो झज्जासिंहको पुकारनेपर वह कहलवा देता है—वे घरमें नहीं हैं। झज्जासिंह लौट जाता है और यों रामलाल सचाईके सामने आनेसे बच जाता है। कहिए बहाना एक पर्दा है या नहीं? तो अब आई आपकी समझमें मेरी बात? सच बात यह है कि जितनी देरमें दिल्लीके चांदनी चौकसे लालपुरानेवाला इंजन गुजर जाता है, उतनी देरमें आपकी समझमें बातका प्रवेश होता है। फिर भी भाई, आप आप हैं और हम हमीं हैं।

अपने मकानपर दुश्मन भी आ जाये, तो मित्र हो जाता है, यह हमारे देशका पुराना सदाचार है, पर आजकल बहुत बार यह भी होता है कि मित्र यदि अपने मकानपर आ जाय, तो वह लौटते-लौटते दुश्मन हो जाता है।'

शायर साहबने कहा—अच्छा हम फिर आवेंगे, पर चलते-चलते उनके दिलमें आया कि इतनी ऊँची है यह दीवार और उससे इतनी और ऊँची है हमारे दोस्तकी बीबी, तो इसका मतलब यह हुआ कि बेगम साहबा करीब ७ फीट लम्बी हैं। शायर साहबको जो आई, फुरेरी तो एक कोयला उठाया और दीवारपर लिख मारा—

तूले शबे फुरकतसे भी दो हाथ बडी हैं।

अर्थात् वह बेचैनी की रातसे भी दो हाथ बडी है।

उनके जानेके बाद ये शायर साहब आये, तो देखा कि दीवारपर यह लाइन लिखी है। बीबीसे पूछ ताछ की तो सब माजरा समझे और सोचने लगे कि आज तो यह बडा तगडा झापड पडा। आखिर शायर थे वे भी। आई जो फुरेरी, तो उन्होने उस लाइनके नीचे एक दूसरी लाइन यो लिखी—

वो जुल्फें मसल-सल जो तेरे रुख पै पडी हैं।

यानी बेचैनीकी रातसे भी वह जुल्फ दो हाथ बडी है, जो तेरे चेहरेपर लहरा रही है।

शायर साहब घूमघामकर लौटे, तो देखा कि अब एक की जगह वहाँ दो लाइनें है और उन्हे पढा, तो मुसकराकर रह गये। कहनेका मतलब यह कि सब बलायें भूतके सिर, यह नुसखा अचूक है कि वे घरमें नही हैं, पर इसमें जरा-सी चूकसे बचनेकी जरूरत जरूर है।

अच्छा आप बहुत बालकी खाल निकालते हैं और बडे खोजी बनते है, तो मेरे एक प्रश्नका उत्तर दीजिए। प्रश्न यह है कि क्या यह सभव है कि आपके घर पर कोई आपसे ही यह कहे कि आप घर पर नही है और आपको इसका यक़ीन आ जाए?

मैं जानता हूँ आप इसपर नही कहेंगे और इस प्रश्नको ही बेसिर-

शायर साहबने कहा—अच्छा हम फिर आवेंगे, पर चलते-चलते उनके दिलमें आया कि इतनी ऊँची है यह दीवार और उससे इतनी और ऊँची है हमारे दोस्तकी बीबी, तो इसका मतलब यह हुआ कि बेगम साहबा क़रीब ७ फीट लम्बी हैं। शायर साहबको जो आई, फुरैरी तो एक कोयला उठाया और दीवारपर लिख मारा—

**तूले शबे फुरकतसे भी वो हाथ बडी है।**

अर्थात् वह बेचैनी की रातसे भी दो हाथ बडी है।

उनके जानेके बाद ये शायर साहब आये, तो देखा कि दीवारपर यह लाइन लिखी है। बीबीसे पूछ ताछ की तो सब माजरा समझे और सोचने लगे कि आज तो यह बडा तगडा झापड पडा। आखिर शायर थे वे भी। आई जो फुरैरी, तो उन्होने उस लाइनके नीचे एक दूसरी लाइन यो लिखी—

**वो जुल्फें मसल-सल जो तेरे रुख पै पड़ी हैं।**

यानी बेचैनीकी रातसे भी वह जुल्फ दो हाथ बडी है, जो तेरे चेहरेपर लहरा रही है।

शायर साहब घूमघामकर लौटे, तो देखा कि अब एक की जगह वहाँ दो लाइने हैं और उन्हे पढा, तो मुसकराकर रह गये। कहनेका मतलब यह कि सब बलायें भूतके सिर, यह नुसखा अचूक है कि वे घरमे नही हैं, पर इसमें जरा-सी चूकसे बचनेकी ज़रूरत जरूर है।

अच्छा आप बहुत बालकी खाल निकालते हैं और बडे खोजी बनते है, तो मेरे एक प्रश्नका उत्तर दीजिए। प्रश्न यह है कि क्या यह सभव है कि आपके घर पर कोई आपसे ही यह कहे कि आप घर पर नही है और आपको इसका यक़ीन आ जाए?

मै जानता हूं आप इसपर नही कहेगे और इस प्रश्नको ही बेसिर-

पैरका वतलाएँगे, पर मै कहता हूँ कि यह सम्भव है और सौ फी सदी सभव है। फिर यह कोई मै अपनी तरफसे गढकर थोडे ही कह रहा हूँ। यह तो भाई साहव, विश्व विख्यात लेखक स्वीट मार्डेनने अपनी एक पुस्तकमें लिखा है।

ओहो, इसमें शव्द-समूहोके अम्वार खडे करनेकी क्या वात, मेरी पूरी वात तो आप सुन ले। एक प्रोफेसर साहव वागमे वैठे विचारोकी किसी गुत्थीमे उलझ रहे थे। रात गहरी हो चली, तो अपने घर आये, पर रास्तेमे भी उलझे ही रहे और घर जाकर दरवाजा थपथपाया, तो उलझे ही उलझे। नौकरानी नई आई थी। उसने प्रोफेसर साहवको नही पहचाना और ऊपरसे कहा—साहव घरमें नही है। प्रोफेसर साहवने यह सुना और सुनकर फिर वागमे लौट आये। वहाँ पहुँचकर विचारोकी गुत्थी सुलझी, तो याद आया कि ओह हम तो अपने ही घर गये थे। अव सोचिए कि इस वरतीने भी कैसे अजीव-अजीव जीव पैदा किये है। नौकरानीने कहा कि साहव घरमे नही है और साहवने भी मान लिया कि हाँ वे घरमे नही हैं।"

तो, सव सकटोसे वचनेका उपाय है घरमे नही है। घर एक किला है, जिसमे कोई यो ही नही घुस सकता। आप घरमे है और कहा जा रहा है कि घरमें नही है, फिर किसकी ताकत है कि आपको घरमे वताए। नन्हे वच्चे यह सव देखते है और झूठ वोलना सीखते है। झूठकी पहली छाप यहीसे उनके मनपर पडती है। इसलिए यह वहाना अच्छा है, फिर भी एक राष्ट्रीय अपराध है। हमारा कर्त्तव्य है कि इमका उपयोग न करे और हमारे मित्रोका कर्त्तव्य है कि इनके उपयोगका हमे सहारा न लेना पडे।

# झेंपो मत, रस लो !

[ १ ]

श्रीमती विद्यावती कौशल मूढेपर, हम कई आदमी अपनी कुरसियोंपर और बातचीत 'कामायनी' के घेरेमें। जाने क्या हुआ कि मूढा लुढक गया और वे धम्मसे धरतीपर आ टिकी, जैसे कोई बालक सडकपर पडे पैसेको अपने दूसरे साथियोंसे पहले दबोचनेको धरतीसे आ लिपटे !

आदमीकी आदत है कि दूसरेको बेवकूफ बनते देखता है, तो उसके फेफडे और होठ खिल पडते हैं। शायद आदमीकी इसी आदतने नाटकोंमें जोकरोंको जन्म दिया है। जोकर बेवकूफ न हो, तब भी बेवकूफ बनता है और हम हँसते हैं।

तो वे लुढकी कि हम हँसे। आदमीकी आदत है कि जब किसीपर हंसे, तो उसकी आँखें देखना चाहती हैं कि जिसे हँसा गया है, वह झेंपे—खिसियाए !

हम भी हँसे, तो अनचाहते भी चाहा ही कि वे झेंपे, पर हुआ यह कि वे इकली ही हम तीन-चारसे भी ज्यादा ज़ोरसे हँसी और अपने मूढेपर आते-आते बोली—"वाह भाई, लाला लेट गये !"

अब एक अजब बात कि उनकी हँसी हमारे कानोंमें क्या गूंजी, हमारी हँसी एकदम खामोश और हम अपनेमें समाये हुए-से।

बातचीत फिर अपनी जगह ज्यों की त्यों, पर मैं सोच रहा हूं कि हुआ क्या ? लगता है कुछ हुआ है, पर क्या हुआ है, यह नही लगता। मैं सोचता रहा और तब अचानक हाथ आया यह सूत्र—'भूल हो जाए, बेवकूफ बन जाओ, तब भी झेंपो मत—उसमें रस लो !'

[ २ ]

मुझे याद आ गई, अपने ही पिछले जीवनकी एक घटना। नहाकर उठा, तो वनयान मैला और मैला वनयान पहननेका मतलब हुआ मैला मन।

"प्रभा जी, साफ बनियान दो!" मैंने पत्नीसे कहा, तो मजबूरी सामने आई—"कल सोचा था, कपडे धोऊँगी, पर तवियत खराब हो गई। पहन लो अब तो इसे ही; दोपहरको दूसरा बदल लेना।" पर देह उसे अपनेमें लेनेको तैयार न हुई—"ना-ना यह नही, साफ बनियान दो!"

उन्हे सूझी मजाक—मजाककी तो वात ही है कि रईस-आज़मके घरमें कुल दो बनियान और माग रहे हैं तीसरा। वे अपना खादी-छींटका धुला जम्फर ले आईं-"लीजिए हाज़िर है!"

इस मज़ाकमे मुझे कोई मज़ाक न लगा—कुरतेके नीचे जैसा बनियान वैसा जम्फर। मैंने उसे गले डाला और विद्यालय चला गया, पर अभी रघुवशका पाठ आरम्भ ही किया था कि ससुरालका तार—"पहली गाडीसे आइए!"

पाठ वन्द और मैं स्टेशनपर। स्टेशनसे गाडीमे और गाडीसे ससुरालके द्वार—श्वसुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणाम्—तो साक्षात् स्वर्गमें। आवभगत हुई, छोटे सालेके सम्वन्धकी वात है, यह बैठते-बैठते सुना, पर दशहरेके दिन कि सुवह ठण्डी फुरेरी, तो दोपहरको गुर्राती-सी धूप। मनमें चाह, हाथोका सहारा, दिमाग वातचीतमें, वस कुरता उतारा और खूंटीपर उसे लटका, जो फिर कुरसीपर, तो हा-हा, हू-हू और 'वाह क्या कहने' के साथ वडे साले साहवका यह रिमार्क भी कि—'वस साडीकी कसर है पण्डितजी!'

वात कुछ नहीं, वही जम्फरका मामला और मैं झेपकी रमकमें।

सोचा कुरता पहन लूं, पर चिड़ियाके उडनेपर निशाना साधनेसे लाभ, बस मैं अपने आपमें स्वस्थ और हँसतोंके नेता अपने बडे साले साहबपर यह करारा वार—"जनाब, हज़ार आदमियोंके सामने आपने अपनी बहन-का हाथ मेरे हाथोमें दिया था। फिर मैंने उनका जम्फर एक दिनके लिए ले लिया, तो आप पुलिसमें रपट क्यो लिखा रहे है!"

हँसी करवट मारते पूरवसे पच्छिमकी ओर और साले साहब अब एक ठहाकेके सामने; जैसे तोपका मुंह उन्हे देख रहा हो। बस वे लडखडाये कि यही एक और चोट—"क्यो साहब, मैं उनका जम्फर छुऊँ, इसमें आपको कुछ ऐतराज़ है क्या?"

ओह हो, एक और ज़ोरदार ठहाका—दीवारोको हिलाता-सा और झेंपका रुख मेरी तरफ़से मुंह मोडे उन्हें अपनेमें घेरे-घेरे!

वही बात कि भूल हो जाए, बेवकूफ बन जाओ, तब भी झेंपो मत—उसमें रस लो। झेंप दूसरी तरफ मुड जायगी और आप उससे साफ बच जाएँगे।

[ ३ ]

बात 'कामायनी' पर ही चलती रही और मैं सोचता रहा। तभी मुझे याद आ गये पण्डित कमलनाभ। वे दो बार ज़िला बोर्डके मेम्बर रह चुके थे। तीसरी बार वे फिर खडे हुए। इस बार मुकाबला एक धनी और प्रभावशाली आदमीके साथ था। साथ ही अपने इलाकेमें उसने बराबर कई सालसे कोशिशे की थीं। इधर पण्डितजी पुराने पत्ते हो चले थे, उधर वह उगता सूरज था।

पहले ही रेलेमें पण्डित जी हारमें थे और उनका विरोधी हारोकी उम्मीदमें। मै चुनावका इन्चार्ज था, इसलिए साढे दस बजे ही मैं झेंप चला।

पण्डितजीसे वचते-वचाते मैंने कहा—जव १०॥ वजे ही ११॥ वज रहा है, तो १॥ वजे क्या होगा ?"

चिन्ता तो उन्हे भी थी, पर निश्चिन्त हो वोले—"तुम १॥ वजेकी वात मुझपर छोडो और एक काम करो कि इण्टरवल होनेसे पहले जितनी मालाएँ वनवा सको, वनवा लो और छुट्टी होते ही मै ज्यो ही वाहर आऊँ कि लाउड स्पीकर मुझे पेडके नीचे मिले। मैं सीधा उसपर आऊँगा और तुम वे सव मालाएँ मुझे पहना देना।"

"क्या मतलव ?" मैंने चौककर पूछा, तो रोककर वोले—"मतलव कुछ नही, जाओ मालाएँ वनवाओ—एक रुपयेमे एक फूल मिले, तव भी मत चूकना !"

यह वजी घण्टी, हुआ इण्टरवल और वे खडे है पण्डितजी पेडके नीचे माइकपर। गला मालाओंसे लदा और पण्डित जी खिले-हँसते। क्या है ? क्या हुआ ? भीड उनके चारो ओर और पण्डित जी कह रहे है—"भाइयो ! मै आज लाजसे गडा जा रहा हूँ। आपने मुझे पहले दो वार वोर्डका मेम्वर चुना। पिछले साल मै लापरवाह रहा, ओहदेके नशेमें डूवा रहा, आपकी खिदमतमे भी लापरवाही मैंने की और वहुतसे भाइयोंके साथ गरम-सरद भी वोला। मुझे उम्मीद थी कि इस वार आप मुझे ठुकरा देगे, पर आप वडे है और वडोकी वात भी वडी होती है। आपने आज मुझे तीसरी वार फिर मेम्वर चुन दिया। आपकी मुहव्वतसे मै दवा जा रहा हूँ।

सुना था परमेश्वर दयालु होता है, तो छप्पर फाडकर देता है। आज मैंने खुली आँखो देख लिया कि पचपरमेश्वरने मेरी भूलोको भुलाकर फिर तीसरी वार ये मालाएँ मेरे गलेमे डाली।

पचो, मै आपके सामने सिर झुकाता हूँ और कसम खाता हूँ कि अव

# पापके चार हथियार !

जार्ज बर्नार्ड शॉका एक पैराग्राफ पढा है। वह उनके अपने ही सम्बन्धमें है, "मै खुली सडकपर कोडे खानेसे इसलिए बच जाता हूं कि लोग मेरी बातोको दिल्लगी समझकर उडा देते है। बात यूं है कि मेरे एक शब्दपर भी वे गौर करें, तो समाजका ढांचा डगमगा उठे।"

"वे मुझे बर्दाश्त नही कर सकते, यदि मुझपर हँसे नही। मेरी मानसिक और नैतिक महत्ता लोगोंके लिए असहनीय है। उन्हें दबानेवाली खूबियोका पुज लोगोंके गलेके नीचे कैसे उतरे? इसलिए मेरे नागरिक बन्धु या तो कानपर उगली रख लेते हैं या बेवकूफीसे भरी हँसीके अम्बारके नीचे ढक देते हैं मेरी बात।"

शॉके शब्दोमें अहकारकी पैनी धार है, यह कहकर हम इन शब्दोकी उपेक्षा नही कर सकते, क्योकि इनमें ससारका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सत्य कह दिया गया है।

ससारमें पाप है, जीवनमे दोष, व्यवस्थामें न्याय है, व्यवहारमें अत्याचार और इस तरह समाज पीडित और पीडकके वर्गोमे बँट गया है। सुधारक आते है, जीवनकी इन विडम्बनाओपर घनघोर चोट करते है। विडम्बनाएँ टूटती-बिखरती नजर आती है, पर हम देखते है कि सुधारक चले जाते है और विडम्बनाएँ अपना काम करती रहती हैं।

आखिर इसका रहस्य क्या है कि ससारमें इतने महान् पुरुष, सुधारक, तीर्थंकर, अवतार, सन्त और पैगाम्बर आ चुके, पर यह ससार अभीतक वैसाका वैसा ही चल रहा है। इसे वे क्यो न बदल पाये? दूसरे शब्दोमे जीवनके पापो और विडम्बनाओंके पास वह कौन-सी शक्ति है, जिससे वह

सुधारके इन शक्तिशाली आक्रमणोंको झेल जाते है और टुकडे-टुकडे होकर बिखर नही जाते ?

शॉने इसका उत्तर दिया है कि मुझपर हँस कर और इस रूपमे मेरी उपेक्षा करके वे मुझे सह लेते है। यह मुहावरेकी भाषामे सिर झुकाकर लहरको ऊपरसे उतार देना है।

शॉकी बात सच है, पर यह सचाई एकागी है। सत्य इतना ही नही है। पापके पास चार शस्त्र हैं, जिनसे वह सुधारके सत्यको जीतता या कमसे कम असफल करता है। मैंने जीवनका जो थोड़ा बहुत अध्ययन किया है उसके अनुसार पापके यह चार शस्त्र इस प्रकार हैं :—

उपेक्षा, निन्दा, हत्या और श्रद्धा।

सुधारक पापोंके विरुद्ध विद्रोहका झण्डा बुलद करता है तो पाप और उसका प्रतिनिधि पापी समाज उसकी उपेक्षा करता है, उसकी ओर ध्यान नही देता और कभी-कभी कुछ सुन भी लेता है, तो सुनकर हँस देता है; जैसे वह किसी पागलकी बड़ हो, प्रलाप हो। इन क्षणोंमें पापका नारा होता है—"अरे, छोडो इसे और अपना काम करो।"

सुधारक सत्य उपेक्षाकी इस रगडसे कुछ तेज होता जाता है, उसके स्वर अब पहलेसे कुछ पैने हो जाते है और कुछ ऊँचे भी।

अब समाजका पाप विवश हो जाता है कि वह सुधारककी बात सुने। वह सुनता है और उसपर निन्दाकी बौछारें फेंकने लगता है। सुधारक सत्य और समाजके पापके बीच यह गालियोंकी दीवार खड़ी करनेका प्रयत्न है। जीवनके अनुभवोकी साक्षी है कि सुधारकके जो जितना समीप है, वह उसका उतना ही बड़ा निन्दक होता है। यही कारण है कि सुधारकोंको प्राय: क्षेत्र बदलने पडे है। मुहम्मदको मक्कासे मदीना इसीलिए तो जाना पडा था !

इन क्षणोमें पापका नारा होता है—

"अजी वेवकूफ है, लोगोको बेवकूफ बनाना चाहता है।"

सुधारकका सत्य निन्दाकी इस रगडसे और भी प्रखर हो जाता है और अब उसकी धार चोट ही नही करती, काटती भी है।

पापके लिए यह चोट अब धीरे-धीरे असह्य हो उठती है और वह बौखला उठता ह । अब वह अपने सबसे तेज शस्त्रको हाथमें लेता है। यह शस्त्र है हत्या ।

सुकरातके लिए यह ज़हरका प्याला है, तो ईसाके लिए सूली, दयानन्दके लिए यह पिसा कांच है, तो गाधीके लिए गोली।

इन क्षणोमें पापका नारा होता है—"ओह, मै तुम्हे खिलौना समझता रहा और तुम सांप निकले, पर मैं सांपको जीता नही छोडूंगा—पीस डालूंगा।"

सुधारकका सत्य हत्याके इस घर्षणसे प्रचण्ड हो उठता है। शहादत उसे ऐसी धार देती है कि सुधारकके जीवनमें उसे जो शक्ति प्राप्त न थी, अब हो जाती है। सूर्योका ताप और प्रकाश उसमें समा जाता है, बिजलियोकी कडक और तूफानोका वेग भी।

पाप कांपता है और उसे लगता है कि इस वेगमें वह पिस जायगा—बिखर जायगा। तब पाप अपना ब्रह्मास्त्र तोलता है और तोलकर सत्यपर फेंकता है। यह ब्रह्मास्त्र है श्रद्धा।

इन क्षणोमे पापका नारा होता है—

"सत्यकी जय, सुधारककी जय !",

अब वह सुधारककी करने लगता है चरण-वन्दना और उसके सत्यकी महिमाका गान और बखान।

सुधारक होता है करुणाशील और उसका सत्य सरल विश्वासी।

वह पहले चौंकता है, फिर, कोमल पड जाता है और तव उसका वेग पड जाता है शान्त और वातावरणमें छा जाती है सुकुमारता।

पाप अभीतक सुधारक और सत्यके जो स्तोत्र पढता जा रहा था, उनका करता है यूं उपसहार—"सुधारक महान् है, वह लोकोत्तर है, मानव नही; वह तो भगवान् है, तीर्थंकर है, अवतार है, पैगम्बर है, सन्त है। उसकी वाणीमे जो सत्य है, वह स्वर्गका अमृत है। वह हमारा वन्द-नीय है, स्मरणीय है, पर हम पृथ्वीके साधारण मनुष्योंके लिए वैसा वनना असम्भव है, उस सत्यको जीवनमें उतारना हमारा आदर्श है, पर आदर्शको कव कहाँ कौन पा सकता है?"

और वस इसके वाद उसका नारा हो जाता है—"महाप्रभु सुधारक वन्दनीय है, उनका सत्य महान् है, वह लोकोत्तर है।"

यह नारा ऊँचा उठता रहता है, अधिकसे अधिक दूरतक उसकी गूंज फैलती रहती है, अधिकसे अधिक लोग उसमें शामिल होते रहते है, पर अव सवका ध्यान सुधारकमे नही, उसकी लोकोत्तरतामें समाया रहता है; सुधारकके सत्यमे नही, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अर्थों और फलितार्थोंके करने-मे जुटा रहता है।

अव सुधारकके वन्ने लगते है, स्मारक और मन्दिर और उसके सत्यके ग्रन्थ और भाष्य।

वस यही सुधारक और उसके सत्यकी पराजय पूरी तरह हो जाती है।

पापका यह ब्रह्मास्त्र अतीतमे अजेय रहा है और वर्तमानमें भी अजेय है। कौन कह सकता है कि भविष्यमें कभी कोई इसकी अजेयताको खण्डित कर सकेगा या नही?

# जब मैं पंचायतमें पहली बार सफल हुआ !

पास-पडौसकी एक दूकानका उद्घाटन था। दूकान क्या, एक पूरी कम्पनी ही है। सब लोग एकत्रित हुए। मैं भी पहुँचा, तो देखा कि ऊँची कुरसी मेरे लिए खाली है और उद्घाटन मुझे करना है। मैंने सब मनुष्यों-पर एक नजर डाली, तो सब युवा थे। तभी आ गये एक रिटायर्ड इंजीनियर महोदय।

मित्रोंको मैंने धीरेसे कहा—बाबूजीसे कराइये उद्घाटन, तो सब एक साथ मेरे ही लिए चिल्ला-से पडे—नहीं, नहीं, आप।

मैं कुरसीके पास गया और कहा—हमारी सभ्यताका मूलमन्त्र है मर्यादा। इस मर्यादामें युवकोंका अधिकार है सेवा और वृद्धोंका आशीर्वाद। प्रसन्नता है कि हमारे बीचमें एक वृद्धजन हैं। सबकी ओरसे मैं उनसे प्रार्थना करता हूं कि वे इस शुभ कार्यका उद्घाटन करें और आशीर्वाद दें। अपने युवा साथियोंसे मैं प्रार्थना करता हूं कि वे उस आशीर्वादको नम्रताके साथ सिर-आंखों ग्रहण करें।

मैंने देखा कि सारा वातावरण एक सात्त्विक आह्लादसे भर गया। बाबूजीने उद्घाटन किया, आशीर्वाद दिया और कार्य समाप्त हुआ, तो चलते समय मुझे अपनेसे लिपटा लिया—मेरे लिए यह बडी चीज़ थी।

श्रीराम शर्मा 'प्रेम' साथ थे। रास्तेमें बोले—"आज मैंने आपसे कुछ सीखा।" मैंने पूछा—क्या, तो बोले—"यह कि मनुष्य पद-प्रतिष्ठा और दूसरी ऐसी ही चीज़ोंके पीछे दौडकर सफलताके स्वप्न देखता है, पर वास्तवमें सफलता इनसे मुंह मोडकर चलनेमें है। अक्सर यह होता

है कि हम पानेमें खोते है और खोनेमे पाते है, पर कुछ ऐसा भ्रमजाल चारो ओर छाया है कि हम इस सचाईको पकड नही पाते । आज आप उस कुरसीपर स्वय बैठकर उद्घाटन करते और उपस्थित मनुष्योंके हृदयोंमे ५० डिग्रीका मान पाते, तो अब आप उस पर किसी दूसरेको बैठाकर सच कहता हूं, १०० प्रतिशत मान पा गये।"

मैंने कहा—"तुम्हारा दृष्टिकोण ठीक है, मै वरसो पहले ही यह बात समझकर गाँठ बांध चुका हूं, पर आज तो मैंने किसी दूसरे ही कारण या दृष्टिकोणसे ऐसा किया है।"

उत्सुक हो श्रीराम भाईने पूछा—"वह भी समझाइये।" मैंने कहा—समाजमें वृद्ध भी है और युवक भी। दोनोकी मनोवृत्तियोमे अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन युगमे जो आश्रम-व्यवस्था थी, वह इसका सर्वोत्तम इलाज था। युवक पुत्रने जहां घर सम्भाला कि वृद्ध जी वाणप्रस्थी हुए और जहां पुत्र पूर्ण प्रवन्धक हुआ कि वे सन्यास लेकर वनकी राह लगे। आज दोनो साथ है और इसीलिए हर एक घरमे घोर सघर्ष है और इस सघर्षका उपाय है—सम्मिलित परिवारकी समाप्ति। मै सम्मिलित परिवारके घोर विरुद्ध हूं, पर सम्मिलित-परिवार सस्थाको समाप्त करके भी यह प्रश्न पूरा नही सुलझता, क्योकि फिर भी घरमे न सही समाजमे तो दोनो रहेगे ही—सघर्ष घरोसे निकलकर समाजके आगनमे खुल-खेलेगा। खेल ही रहा है आज।"

"फिर उपाय क्या है?" श्रीराम भाईने पूछा।

मैंने कहा—"उपाय है दोनोकी मनोवृत्तियोका अध्ययन कर दोनोंके मध्य मर्यादाकी रेखा खीचना। वृद्धमे अनुभव है, युवकमे साहस। पहला सोचता है—इसे अभी क्या पता ससारका और दूसरा सोचता है—मै जो चाहूं कर सकता हूं। दोनो ही अपनी ओर देखते है, दूसरेकी ओर नही।

अपने अनुभवोकी छायामे वृद्ध चाहता है कि युवक उसकी आज्ञाका पालन करे। वृद्धत्वकी सबसे बडी आकाक्षा है झुका हुआ सिर देखना। उसकी आँखें नत शिर और विनत स्कन्ध देखना चाहती हैं और उसके कान सुनना चाहते है केवल एक वाक्य—जैसी आपकी आज्ञा!

आँखें खोलकर चलनेके कारण अपने सार्वजनिक जीवनके आरभमें ही मैंने समझ लिया था कि नत शिर और विनत स्कन्ध देखने और 'जैसी आपकी आज्ञा' सुननेके बाद ९५ प्रतिशत वृद्धोमे शेपके प्रति कोई ज़िद नही रहती और इतना उन्हे न मिले, तो फिर वे किसी भी निर्णयके लिए तैयार नही होते, क्योकि उस समय प्रश्न तर्क और औचित्यके राजपथसे उतर, ज़िद और अहकारकी झाडियोमें उलझ जाता है।"

असलमें यह तत्त्व १९३१में हाथ लगा। कस्बेकी एक कन्या उस समय गर्भवती थी, जब उसका विवाह हुआ, इसलिए द्विरागमन होनेसे पहले ही उसके पुत्री हुई। बात खुल गई और लडकेवालोंने द्विरागमन करनेसे इकार कर दिया। एक दिन मैंने उस कन्याको देखा। अत्यन्त भोली, सात्त्विक और सजीदा। मै उससे मिला। वह भूलपर दुखी थी और इस बातके लिए तैयार न थी कि उसका कही और दूसरा विवाह किया जाये। मुझपर इस बातका प्रभाव पडा और मैंने प्रयत्न करनेका निश्चय कर लिया।

तीन महीनोंके प्रयत्नोंसे लडकेवाले उस कन्याको लेनेके लिए तैयार हो गये, पर शर्त यह कि मेरे नगरके लोग—ब्राह्मण पचायत—सार्वजनिक रूपमें, उन्हें यह आदेश दें कि वे इसे ग्रहण करें। शर्त कठिन थी, पर उचित। मैंने उद्योग आरभ किया, ५ वृद्ध-पचोको मनाना कठिन था और शेष लोगोंसे पचायतमे हाथ उठवाना सरल, इसलिए मैंने अलग-अलग पचोंसे मिलना आरम्भ किया।

मैंने यह भूमिका तैयार की कि बातचीत इससे ही आरभ करूँगा—

"लडकी बडी गऊ है, जरा-सी भूलसे मारी गई। आप समाजकी नस-नसको पहचानते है, सारी उमर बुरा जीवन बिताएगी—ये इतनी वेश्याएँ यो ही तो बढी है। आप आज्ञा दे, तो इसे इसके घर पहुँचा दे, पर यह आपकी पूरी शक्ति लगाये बिना सभव नही। बात यह है कि आप तो युगको पहचानते है, पर ज्यादातर लोग अभी अन्धेरेमें ही पडे है। हाँ, आपका इतना प्रभाव है कि आप पंचायतमे बोल पडे, तो फिर कोई सांस नही ले सकता। यह गऊ अपने खूंटेसे बन्ध जायगी। एक बात है कि यह सारे समाजका मामला है। हम लोग तो अभी बालक है, ठीक समझते नही। आपका अनुभव विशाल है। आप आज्ञा दें, तो बात चलाई जाय, नही तो यही खत्म।"

बातचीत चलाई गई और पचायतमे प्रस्ताव इतने जोरोंसे पास हुआ कि सबके लिए आश्चर्य-जनक। तबने मैंने सीखा कि वृद्धोका यदि हम मान रक्खें, तो वे हमे कर्मकी स्वतन्त्रता दे देते है। वृद्धोंके अहकारपर कभी आक्रमण मत करो, यह समाज-सुधारका पहला मन्त्र मैंने याद कर लिया और फिर तो वृद्धोका मान मेरा स्वभाव ही हो गया। अब तो मुझे बडोंके सामने, उनका आदेश पाकर भी ऊपर बैठते सकोच होता है। मेरे लिए अब यह कोई टैक्ट नही, सस्कार हो गया है और मै तो चाहता हूँ कि हरेक युवकमें यह सस्कार हो।



# मैं पशुओं में हूँ,
# पशु जैसा ही हूँ,
# पर पशु नहीं हूँ!

## जिज्ञासा

स्वतन्त्र भारतके केन्द्रीय शासन द्वारा आयोजित साहित्य-सस्कृति-सगमका उद्घाटन दिल्लीके लाल किलेमें महामहिम राष्ट्रपति-द्वारा हो चुका, तो प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू सस्कृतिपर बोलनेको माइक पर आये।

उनके भाषणका पहला वाक्य लगभग यह था—"आप जानते है कि मुझे तो सस्कृति-कलचरके मामलोमें बहुत दिलचस्पी है, पर मुसीबत तो यह है कि इस मसलेपर मैं ज्यो-ज्यो ग़ौर करता हूं, आलिमो-विद्वानोंसे मिलता हूं या उनकी किताबें पढता हूं, उलझता जाता हूं।"

नेहरूका यह वाक्य सुनकर मै अपनेमें ऐसा उलझ गया कि मुझे नही मालूम फिर आगे उन्होने क्या कहा। सहसा मुझे याद आ गई अपने ही जीवनकी एक घटना। मेरे नगरका विशाल तालाब है देवीकुण्ड। उसमें तैरते-डुबकियाँ लेते मै पला-पनपा, पर उस दिन तैरते-तैरते कमल-वनमें जा घुसा, तो लगा कि अब लौटना असभव है।

हाथो और पैरोमें कमलकी नाले इस तरह लिपटी कि एकसे छूटूं, तो दोमे उलझूं और दोसे छूटूं, तो चारमें और बस छूटने-उलझनेकी कशम-कशमे हाल्त यह हो गई कि मकडीके मायाजालमें फँसी मक्खी रे मैं अपनी

उपमा दे सकूँ। अपने प्रिय नेहरूकी उलझन मुझपर कुछ इस तरह छा गई कि लगा मैं इस समय भी उसी कमल-वनमे उलझा हुआ हूँ।

नेहरूके वाद आसफअली आये और उन्होने विनयको ही सस्कृति कहा, तो काका कालेलकरने सस्कृतिके नामपर शुद्धि, समृद्धि, सामर्थ्य और समाधानकी चर्चा की और इस तरह दो दिनोतक वर्चस्वी विद्वानोंके भाषण सुनकर सचमुच स्वय मेरी भी हालत नेहरू जैसी ही हो गई कि कहूँ—पर मुसीवत तो यह है कि मैं इस मसलेपर ज्यो-ज्यो ग़ौर करता हूँ, आलिमो-विद्वानोंसे मिलता हूँ या उनकी वाते सुनता हूँ, उलझता जाता हूँ।

सोचा—आखिर यह सस्कृति है क्या कि जिसके विना मनुष्य मनुष्य नही रहता, पर मानवकी अनिवार्यता होकर भी वह ऐसा गूढ तत्त्व कि उसकी आँख-पूँछ तो हरेक देखता है, पर उसकी पूर्णताके दर्शन—उसका स्पष्ट ज्ञान-किसीको भी सुलभ नही?

अजीव उलझन है और उलझनका तकाजा है कि उसे सुलझाया जाय, पर यह सुलझे कैसे? उलझनको सुलझानेका मेरा अपना तरीका यह है कि जव सुलझाते-सुलझाते वुद्धि उलझने लगे, तो मैं उसे अपने अन्तर्यामीको सौंपकर सो जाता हूँ। वस सस्कृतिकी उलझन भी मैंने अपने अन्तर्यामीको सौंपी और निश्चिन्त हो गया।

कोई १४ महीने वाद देवप्रयागके पर्वतोकी गोदमे अलखनन्दा और गगाके सगमपर वैठे-वैठे मुझे अन्तर्यामीके वोल सुनाई पडे। नम्र हो, मैंने उन्हे भाषामे वाँध लिया।

## स्वरूप

वे वोल कुछ इस तरह थे—मनुष्य जाने कव जगलोमें जन्मा और पनपा-पला। जंगलकी उस जन्मभूमिमे मनुष्यके साथी थे जगली जान-

# मैं पशुओं में हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ!

## जिज्ञासा

स्वतन्त्र भारतके केन्द्रीय शासन द्वारा आयोजित साहित्य-संस्कृति-संगमका उद्घाटन दिल्लीके लाल किलेमें महामहिम राष्ट्रपति-द्वारा हो चुका, तो प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू संस्कृतिपर बोलनेको माइक पर आये।

उनके भाषणका पहला वाक्य लगभग यह था—"आप जानते हैं कि मुझे तो संस्कृति-कल्चरके मामलोंमें बहुत दिलचस्पी है, पर मुसीबत तो यह है कि इस मसलेपर मैं ज्यो-ज्यों ग़ौर करता हूं, आलिमो-विद्वानोंसे मिलता हूं या उनकी किताबें पढता हूं, उलझता जाता हूं।"

नेहरूका यह वाक्य सुनकर मैं अपनेमें ऐसा उलझ गया कि मुझे नही मालूम फिर आगे उन्होंने क्या कहा। सहसा मुझे याद आ गई अपने ही जीवनकी एक घटना। मेरे नगरका विशाल तालाव है देवीकुण्ड। उसमे तैरते-डुबकियाँ लेते मैं पला-पनपा, पर उस दिन तैरते-तैरते कमल-वनमें जा घुसा, तो लगा कि अब लौटना असभव है।

हाथो और पैरोमें कमलकी नालें इस तरह लिपटी कि एकसे छूटूं, तो दोमे उलझूं और दोसे छूटूं, तो चारमे और बस छूटने-उलझनेकी कशमकशमें हालत यह हो गई कि मकडीके मायाजालमें फँसी मक्खी-से मैं अपनी

उपमा दे सकूं। अपने प्रिय नेहरूकी उलझन मुझपर कुछ इस तरह छा गई कि लगा मैं इस समय भी उसी कमल-वनमे उलझा हुआ हूं।

नेहरूके बाद आसफअली आये और उन्होने विनयको ही संस्कृति कहा, तो काका कालेलकरने संस्कृतिके नामपर शुद्धि, समृद्धि, सामर्थ्य और समाधानकी चर्चा की और इस तरह दो दिनोतक वर्चस्वी विद्वानोंके भाषण सुनकर सचमुच स्वय मेरी भी हालत नेहरू जैसी ही हो गई कि कहूं—पर मुसीबत तो यह है कि मैं इस मसलेपर ज्यो-ज्यो ग़ौर करता हूं, आलिमो-विद्वानोसे मिलता हूं या उनकी बाते सुनता हूं, उलझता जाता हूं।

सोचा—आखिर यह संस्कृति है क्या कि जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नही रहता, पर मानवकी अनिवार्यता होकर भी वह ऐसा गूढ तत्त्व कि उसकी आंख-पूंछ तो हरेक देखता है, पर उसकी पूर्णताके दर्शन—उसका स्पष्ट ज्ञान–किसीको भी सुलभ नही ?

अजीब उलझन है और उलझनका तकाजा है कि उसे सुलझाया जाय, पर यह सुलझे कैसे ? उलझनको सुलझानेका मेरा अपना तरीका यह है कि जब सुलझाते-सुलझाते बुद्धि उलझने लगे, तो मैं उसे अपने अन्तर्यामीको सौंपकर सो जाता हूं। बस संस्कृतिकी उलझन भी मैंने अपने अन्तर्यामीको सौंपी और निश्चिन्त हो गया।

कोई १४ महीने बाद देवप्रयागके पर्वतोकी गोदमे अलखनन्दा और गगाके संगमपर बैठे-बैठे मुझे अन्तर्यामीके बोल सुनाई पडे। नम्र हो, मैंने उन्हे भाषामे बांध लिया।

## स्वरूप

वे बोल कुछ इस तरह थे—मनुष्य जाने कब जगलोमें जन्मा और पनपा-पला। जगलकी उस जन्मभूमिमें मनुष्यके साथी थे जगली जान-

वर—शेर, चीते, हाथी, भालू, भेडिये और अजगर। वह उन्हीकी तरह शिकार करता-खाता, उन्हीकी तरह लडता-मरता। उन्हीकी तरह शरीर-की दूसरी माँगें पूरी करता, उन्हींकी तरह रहता-सहता और जैसे वे थे, वैसा वह था—उन्हीमें एक!

यो ही युग बीत गये।

वह जगलमे जगली जानवरोकी तरह, जगली जानवरोंके साथ, जीता-मरता रहा। पजे ही उसकी शक्ति, इच्छा ही मार्ग-दृष्टि और यों वह निर्द्वन्द, अल्हड और मस्त—दो पैरोका एक चौपाया!

जाने कब, कैसे, और क्यो उसने दूसरे जानवरोकी ओर देखा और फिर अपनी ओर। जाने कबतक, कितने युगोतक वह यो ही कभी उन्हे और कभी अपनेको देखता रहा।

देखते-देखते वह कुछ सोचने लगा। जाने कितने युगोंतक वह क्या-क्या सोचता रहा और तब उसके अन्तरमें एक पुकार उठी—मैं पशुओमे हूं, पशुओ जैसा ही हूं, पर पशु नही हूं।

मनुष्यके हृदयमें सहज भावसे उठी यह पुकार, बहुत-सी बातोंमें पशुके समान होकर भी पशु न होनेकी, उससे भिन्न होनेकी, उससे श्रेष्ठ होनेकी, यह आत्म-चेतना ही मनुष्यकी सस्कृति है।

मनुष्यके विकासकी पृष्ठभूमि यही आत्म-चेतना, यही सस्कृति है। यह सस्कृति ही उसकी मूल प्रेरणा है। इसीने उसकी जीवन-दृष्टिको विशिष्टता दी है और इसीने उसके जीवन-व्यवहारको उच्चता। इसीसे मनुष्य उठा और अपने निर्माणके पथपर चला, क्योंकि अब उसे हर बातमें अपनी श्रेष्ठता अनुभव करनी थी और प्रदर्शित भी।

सस्कृति मनुष्यके जीवनका शाश्वत सत्य है—यही मनुष्य और पशुके बीचकी विभाजक रेखा है।

मैं पशुओंमें हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ !

अपने अन्तर्यामीके ये बोल सुनकर मैंने सोचा—संस्कृतिमें उलझन कहाँ है? कहीं भी तो नहीं!

## साक्षात्कार

संस्कृतिका स्वरूप अब मेरे सामने था, पर उस दिन मुझे अचानक संस्कृतिका साक्षात्कार ही हो गया, जैसे योगीको ब्रह्म-ज्ञानके बाद ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाये।

यह मेरे जीवनका एक चमत्कार था!

और यह भी एक चमत्कार ही था कि जीवनका यह चमत्कार एक रातको सिनेमा देखते समय हुआ!!

तस्वीर थी प्यारकी जीत। कहानी यों थी कि स्त्री-पुरुषोंके दो जोड़े थे—एक सज्जन और एक दुर्जन। सज्जन जोड़ा जीवनमें एक होना चाहता था, पर दुर्जन जोड़ा इसमें बाधक था। सज्जन जोड़ा यदि एक हो जाय, तो उसे एक बड़ी सम्पत्ति मिलनेवाली थी, पर दुर्जन जोड़ा इस सम्पत्तिको स्वयं हड़पना चाहता था।

कहानीका प्रवाह सज्जनता और दुर्जनताके सघन सनसनीपूर्ण घात-प्रतिघातसे भरपूर था। सिनेमा हाल अन्धकारमें भरा था। मैं जरा बादमें आया था और मुझे पता न था कि मेरे आस-पास कौन बैठे हैं। कहानी बल खाती-इठलाती चल रही थी।

सज्जन जोड़ा मिलनेका प्रयत्न करता, सफलता निकट दिखाई देती कि वे मिले, वे मिले, वे एक हुए कि दुर्जन जोड़ा अपना दाव मारता और ये दोनों बहुत दूर जा पड़ते। चोट सहकर ये दुर्जन जोड़ेपर चोट करते और दुर्जन जोड़ा चारों खाने चित दिखाई देता।

मेरा ध्यान इस बातपर गया कि जब दुर्जनताकी विजय होने लगती

है, तो मेरे आस-पास बैठे लोगोका साँस रुकने लगता है और सज्जनता जीतती है, तो उनकी तालियोकी गूँजसे सारा हाल गडगडा उठता है।

एक ऐसी ही गडगडाहटमें मध्यान्तर हुआ और ऊपरसे प्रकाशके आते-आते सुना—"ऐसे बदमाशोको तो गोली मार देनी चाहिए।" मुडकर देखा, तो यह श्री चावलाकी आवाज थी। यह पुरुष अपना कारखाना स्वय फूँककर बीमा कम्पनीसे २० हजार रुपये उडा चुका था!

सज्जनताकी जीत पर मेरे पीछे भी बहुत तालियाँ पिटी थी। उधर देखा, तो मैं धक् रह गया। ये एक कपडेके व्यापारी थे और अपनी विधवा बुआकी हत्याकर उसका धन हडप चुके थे!

समयकी बात, मेरी दृष्टि जिनपर भी उस समय टिकी, वे अधिकतर इसी श्रणीके पुरुष थे।

अचानक मेरे मनमें प्रश्न उठा—ये लोग दुर्जन जोडेकी श्रेणीमें है, फिर यह क्या बात है कि ये तालियाँ बजा रहे हैं सज्जन जोडेकी जीतपर? साफ शब्दोमें, इनकी सहानुभूति तो दुर्जन जोडेके साथ होनी चाहिए!

मैं अपने प्रश्नसे बेचैन था और कहानी फिर उसी घात-प्रतिघातमें चल रही थी। अन्तमें दुर्जनता बुरी तरह हारी और सज्जनता पूरी तरह जीती, तो हॉल तालियोंसे हिल-हिल उठा। मैं हॉलसे बाहर निकल तारोकी छाँहमें आया और पार्कके लानपर जा बैठा—मेरा प्रश्न भीतर ही भीतर मुझे उधेड रहा था।

सहसा मेरे अन्तर्यामीके बोल मुझे फिर सुनाई पडे—मनुष्य युग-युगोतक जगलमें रहा है, पशुओमें रहा है, पशुओकी तरह रहा है। उस कालकी आदतें, प्रवृत्तियाँ आज भी उसके साथ हैं। ये प्रवृत्तियाँ उसे पशुताकी ओर बहा ले जाती हैं, वह पशुताके कार्य करनेपर उतारू हो जाता है, पशुताके कार्य करता है, पर उसके भीतर अपनेको पशुसे भिन्न बतलानेवाली,

अपनेको पशुसे श्रेष्ठ समझनेवाली, एक आत्म-चेतना है और वह उसे सदा पशुतासे रोकती है।

मनुष्य बुद्धिके, परिस्थितियोंके, प्रलोभनके, माया-जालमें फँस भले ही आत्म-चेतनाकी उस रोकको न माने, लाख पशुता करे, वह चेतना अपना काम करती रहती है। तभी तो बुरे होकर भी प्रशसा हम भलाईकी ही करते है, दुष्ट होकर भी विजय हम सज्जनताकी ही चाहते हैं और इस प्रकार हमारे ऊपर पशुताका लाख अन्धेरा छा जाय, हमारे अन्तरमे देवत्वका प्रकाश ही रहता है। यही सस्कृतिका दीपक है। इसी दीपकके प्रकाशकी वाणी है— नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्—मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ भी नही है।

मुझे लगा कि मेरे बाहर, भीतर, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, चारो ओर दीपक ही दीपक जल रहे हैं और तब पार्ककी उस हरी दूबपर खुले आकाशके नीचे मैंने अपनेसे कहा—यही सस्कृतिका साक्षात्कार है।

## वंशवृत्त

हाँ, तो जगलमे, जगली जानवरोंके साथ, जगली जानवरोकी तरह रहते मनुष्यके अन्तरमे चेतना जागी कि मैं पशुओमें हूँ, पशुओ जैसा ही हूँ, पर पशु नही हूँ, यानी उनसे भिन्न हूँ, उनसे श्रेष्ठ हूँ ।

यह हुआ सस्कृतिका जन्म ।

इस चेतनाके जन्मसे मनुष्य पर जो पहला प्रभाव पडा, वह था यह कि अब उसे पशु और मनुष्यमे भिन्नता अनुभव होने लगी। भिन्नताके इस बोधने उसकी मनोवृत्तिमे जो गहरा परिवर्त्तन किया, वह यह था कि मनुष्य उसे अब पहलेसे अधिक अपना दीखने लगा।

इसका यह फल अनिवार्य ही था कि मनुष्यको अब मनुष्यके साथ

पशुसे भिन्न व्यवहार करनेकी, अच्छा व्यवहार करनेकी इच्छा-प्रवृत्ति हो। धीरे-धीरे इस इच्छाने जिस व्यवहार-पद्धतिको जन्म दिया, आगे चलकर उसीका नाम पडा सभ्यता। सभायां साधु. सभ्य.—सभामें, चार आदमियोमें बैठकर जो आदमी भला लगे, जिसका व्यवहार अच्छा हो, वही सभ्य कहा-माना जाने लगा।

सभ्यता, मनुष्य और मनुष्यके बीच व्यवहारकी एक पद्धति, जिसकी पृष्ठभूमि है सहयोगकी भावना। इस भावनाने छोटे-छोटे सघोंके रूपमे समाजकी, सामूहिक जीवनकी रचना की, जिसकी पृष्ठभूमि है पशुओके भयसे सुरक्षाका आश्वासन।

तो अब मनुष्यके लिए अपना ही सुख-दु ख अपना सुख-दु ख न रहा; अपनोका सुख-दु ख भी अपना सुख-दु ख हो गया—भले ही ये अपने १०-२० हो या ४०-५०।

ये अपने मिलकर बैठते, बातमे बात निकलती। इन बातोमे जिन अजेय जिज्ञासाओने जन्म लिया, उनमे मुख्य थी प्रकृतिकी चमत्कार भरी व्यवस्था और मृत्यु।

सूर्य कैसे समयपर निकलता है? तारे क्या हैं? बादलोमे पानी कहाँसे आता है? फूल कैसे खिलते है? चाँद कैसे घटता-बढता है और पूर्ण होता है? ऋतुएँ कैसे बदलती है?

ये प्रश्न आये, तो यह प्रश्न आयगा ही कि वह कौन है, जो यह सब करता है और दिखाई नही देता।

साथ ही यह भी कि यह मृत्यु क्या है? पहले मनुष्य अपनेमे जीता था और कही भी मर जाता था, पर अब वह अपनोमें जीने लगा, तो अपनोमे मरने लगा। अपनेके मरनेका दु ख होता ही है, उसका अभाव खटकेगा

ही, तो प्रश्न पैना हो आया कि वह क्या था, जिसके न रहनेसे आदमी मर गया? और मरकर वह कहाँ गया?

इन जिज्ञासाओंने मनुष्यमें एक अप्रत्यक्षके प्रति आस्था उत्पन्न की और इस आस्थाने मनुष्यमें जिन दो नई भावनाओंको जन्म दिया, उनमें एकका नाम पड़ा धर्म और दूसरीका दर्शन।

धर्म बाहर खोजता रहा, दर्शन भीतर। धर्मकी खोज मनुष्यको अपना जो सर्वोत्तम दे पाई, उसका नाम है ईश्वर और दर्शनकी खोज मनुष्यको जो सर्वोत्तम दे पाई, उसका नाम है आत्मा। इतिहासपुरुष शंकराचार्यने दोनोंकी एकता प्रतिपादित की और आत्माको ही परमात्मा बताया।

बस संस्कृतिका यही वंशवृक्ष है—संस्कृति माताकी पुत्री सभ्यता, सभ्यताका पुत्र समाज, समाजके जोड़ले पुत्र धर्म और दर्शन, धर्मका पुत्र ईश्वर और दर्शनकी पुत्री आत्मा।

## मूलमंत्र

मूलमन्त्र (मोटो) सत्यका, तत्त्वका रहस्य समझनेमें सहायक होते हैं, तो सोचा संस्कृति और उसके बराबरोंका मूलमन्त्र यदि खोजा जा सके, तो यह सुविधाजनक होगा।

खोजने पन्ने उलटते, चिन्तन करते जहाँ संतोष पाया, वह यहाँ उपस्थित है। मैं आग्रही नहीं हूँ कि अपने संतोषको परिपूर्णता कहूँ, मानूँ या माननेको बाध्य करूँ।

क्या संस्कृतिकी भाव-दिशा अतीतमें गाई गई इस ऋचामें समाई नहीं है?

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय।

मेरे अन्तर्यामी, मुझे असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमरताकी ओर ले चल।

असतो मा सद्गमयमें संस्कृतिकी, तमसो मा ज्योतिर्गमयमें सभ्यता-समाजकी और मृत्योर्मामृत गमयमें धर्म-दर्शनकी दिशाका पूर्ण संकेत है।

असत् है पशुता—जंगलीपन—, तो सत् है मनुष्यता—मनुष्यकी संस्कारिता।

तमस्—अन्धकार—है पशु की असहायता, हिंस्रता और ज्योति है मनुष्यकी अहिंसकता, सामाजिकता, सहकारिता।

मृत्यु है मरणके साथ जीवनकी समाधि और अमरता है, जीवन-का शाश्वत प्रवाह, आत्माकी अमरता, चेतनता और व्यापक चैतन्य सत्ताके साथ एकीकरण।

## कसौटी

संस्कृतिकी कसौटी क्या है? हम कैसे निर्णय करें कि हमारा अमुक काम संस्कृतिके अनुकूल है या नहीं? संस्कृति शब्दकी लोक-प्रियताने उसे आकर्षक बना दिया है और हर प्रवक्ता एवं लेखक, हर सभा और संगठन अपनेको संस्कृतिका रक्षक कहना आवश्यक मानने लगा है। इसी उलझनके अन्धकारमें प्रकाशकी मांग है—संस्कृतिकी कसौटी क्या है?

संस्कृतिकी कसौटी है पशुता। उचकिए नहीं, संस्कृतिकी कसौटी है पशुता, पर जरा बुद्धिके साथ। जिस परिस्थितिमें पशु जो कुछ करता है, क्या हम भी वही करते हैं या उससे भिन्न? बस पशुसे भिन्नता ही संस्कृतिकी कसौटी है।

पशुका स्वभाव है कि जहां, जब, जो, जी में आया कर लिया, पर मनुष्यका स्वभाव है जहां, जब, जो, जीमें आये, उसे सोचे कि यहां, अब,

यह करना उचित है या नही और उचित हो, तो करे, नहीं तो रुक जाय। सक्षेपमे बुद्धिपूर्वक सयम ही सस्कृतिकी कसौटी है।

## उलझन

इस कसौटीपर अपने आचरणको कसकर उसके अनुसार चलना कठिन नही है, पर वह दलदल कहाँ है, जहाँ यह चलती गाडी अटककर फँस जाती है, फँस क्या वस धँस जाती है कि निकाले न निकले ?

दोमे बाते होती है, व्यवहार चलता है। जबतक दोनो एक मत है, एक दूसरेके अनुकूल है, कोई बात नही, पर जब दोनोमे मतभेद होता है, तो गरमी आती है, असहिष्णुता उमड़ती है, क्रोध भड़कता है। जी चाहता है कि सामनेवाला हमारी बात माननेको विवश हो और न हो, तो हम उसे ताकतसे पीस दे, मिटा दे, अपनी बात उससे मनवा ले।

यहाँ पशु और मनुष्य समान है। पशुमे भी यह इच्छा सहज है और मनुष्यमे भी, पर मनुष्य बुद्धिमान है, इसलिए पशुओमे जहाँ इस इच्छाके फलस्वरूप झडप और हत्या ही होती है; मनुष्यने इसे समाजकी एक सामूहिक प्रवृत्ति बना, युद्धका रूप दे दिया है।

तो युद्ध मनुष्यकी पशुताका, सस्कृति-हीनताका सर्वोत्तम प्रदर्शन है और उलझन यह है कि सस्कृतिकी पताका थामे खडा मनुष्य इस युद्धसे कैसे बचे ? सच तो यह है कि हमारी सस्कृतिके इतिहासका सबसे बडा प्रश्न है ही यह, इतना गहन, इतना जटिल प्रश्न कि हमारे राष्ट्र-पुरुषोंको उनका उत्तर देनेमे कई हजार वर्ष लग गये ! ! !

## रामने कहा

राम और रावण प्रतिकूल परिस्थितियोमे आ खड़े हुए। वही युद्धकी परिस्थितियाँ, परिणाममे युद्ध और युद्धमे एक पक्षका सर्वनाश और दूसरे

पक्षकी विजय।

रामके जीवनने क्या कहा? यही कि युद्ध पशुता है, सस्कृतिके विरुद्ध है, यदि हम न्याय-अन्याय और सत्य एव असत्यका विचार किये बिना लडें, पर यदि हमारी न्यायपूर्ण एव सत्यपूर्ण बातको भी दूसरा न माने तो हम शक्ति और साधनोकी चिन्ता किये बिना लडें, यह पशुता नही है, सस्कृतिके विरुद्ध नही है। इस दशामें यह निश्चित है कि जीत हमारी ही होगी, क्योकि सत्यमेव जयते—जीत तो सत्यकी ही होती है।

क्या बात हुई यह? यही कि **यदि विरोधी हमारी बात न माने, तो हम उससे लडें, उसे मिटा दें,** यह अबतकका नियम था। रामने इसमें जोडा— **पर हमारी बात न्यायसे पूर्ण हो, सत्यसे पूर्ण हो।**

रामका निर्णय अन्धकारमें प्रकाशकी पहली किरण थी—हम अन्धाधुन्ध न लडें, सत्यके, न्यायके पक्षमें होकर ही लडे, असत्यके—अन्यायके विरुद्ध अवश्य लडें और इस विश्वासके साथ कि सत्य कभी नही हारता, हमारी जीत निश्चित है।

## कृष्णने कहा

रामका निर्णय महान् था, पर उसमे एक उलझन थी कि यह निर्णय कौन करे कि मतभेदमे सत्य क्या है, न्याय क्या है? यह हो गया तर्कका विषय और तर्क है बुद्धिका मायाजाल कि सुलझाये न सुलझे। फिर हम न्यायके पक्षसे लडे या अन्यायके पक्षसे, युद्धकी असास्कृतिक—पजेसे फैसला करनेवाली पशु-प्रवृत्ति—तो हममें रही ही!

तो कृष्णके जीवनकी सबसे बडी और आकुल जिज्ञासा यही थी कि युद्ध कैसे रुके?

कौरव और पाण्डव परिस्थितियोंके मायाचक्र पर चढे, दो विरोधी

मोर्चोंपर आ जमे। पाण्डवोंका राज्य एक शर्तके साथ कौरवोंके हाथमें आ गया। पाण्डवोंने अपनी शर्त पूरी की, पर कौरव अब राज्य लौटानेसे इकार कर बैठे—सत्यसे हट गये, बेईमान हो गये।

रामके निर्णयका तकाजा है कि पाण्डव लड़े, पर कृष्णका अन्तर्मन्थन आकुल है कि इस परिस्थितिमें भी युद्ध न हो, युद्धकी पशुतासे बचा जाय। वे इस बातपर भी फैसला करानेको तैयार हो गये कि पाँच पाण्डवोंको पाँच गाँव दे दिये जायें और शेष राज्य कौरवोंके ही हाथमें रहे, पर दुर्योधन इसपर भी नहीं मानता, तो युद्ध अनिवार्य हो उठता है।

तब भी कृष्ण प्रतिज्ञा करते हैं कि वे युद्धमें स्वयं शस्त्र नहीं उठाएँगे और केवल सारथी रहेंगे—परामर्श देंगे। सचाई यह है कि पाण्डवोंके पक्षमें युद्धका नेतृत्व अब उन्हींके हाथमें है और युद्धको रोकनेवाला ही युद्ध करा रहा है।

यह कृष्णकी असफलता है, पर यही कृष्णकी सफलता है कि वे युद्ध करनेकी एक नई मनोवृत्ति संसारको देते हैं—युद्ध सत्यके लिए हो रहा है या असत्यके लिए, उसका करना धर्म है या अधर्म, उससे लाभ होगा या हानि, यह सब मत सोचो, इसका निर्णय तुम कर ही नहीं सकते, तुम तो बस फलकी, परिणामकी, चिन्ता और इच्छा दोनोंसे मुक्त होकर बस लड़ो, निष्काम रहो। यह है एक सामाजिक विवशताको अपने व्यक्तित्वने जीवन-कलाका रूप दे देना।

## बुद्धने कहा

रामने युद्धकी पशुताको एक ऊँचा आधार देकर संस्कृतिसे जोड़ा, तो कृष्णने युद्धकी पशुताके साथ व्यवहार करनेकी एक नई मनोवृत्ति देकर संस्कृतिसे उसका समन्वय किया, पर युद्धकी पशुता ज्यों की त्यों रही।

तव जन्मा एक क्रान्तिकारी महापुरुष—बुद्ध। उसने कहा—मनुष्यको यह शोभा नही देता कि वह पशुता करे। हिंसा पशुता है और अहिंसा मनुष्यता। मनुष्यकी मनुष्यताका तकाजा है कि वह पूरी तरह अहिंसक रहे।

ससारकी युद्धोंसे थकी मानवताके लिए यह एक नई वाणी थी, इसका समाजपर गभीर प्रभाव पडा और इसकी पूर्णता हुई यो कि सम्राट् अशोकने सेनाओका विघटन करके धर्म-प्रचारको अपना मुख्य कार्य बना लिया।

दुर्भाग्य भारतका, दुर्भाग्य ससारका और दुर्भाग्य मानव जातिका कि बुद्धके उत्तराधिकारियोंने अहिंसाका दुरुपयोग किया और राष्ट्रके जीवनपर एक दयनीय निष्क्रियता छा गई, जीवनकी क्षमता क्षीण हो चली, स्वतन्त्रता खतरेमें पडी और शकराचार्यके रूपमें प्रतिक्रान्तिने जन्म ले, सफलता पाई।

सस्कृतिके इतिहासमे बुद्धका यह महादान है कि वे युद्धको खुले आम पशुता कह सके, उसका विना ननु-नचके विरोध कर सके। उनके कार्यका महत्त्व इसीसे स्पष्ट है कि जब विक्रमादित्योंके वनाये महलो-किलोकी ईंट भी खोजे नही मिलती, बौद्ध-बिहारोंके कलश दूर-दूर आज भी दीप्तिमान है।

## प्रह्लादने कहा

महान् वुद्धने युद्धके—हिंसाके—अशर्त विरोधकी जो मशाल जलाई थी, वह निष्क्रियताके जिस ववण्डरसे वुझी, वह भाषामे यो था—अरे भाई, ठीक है, हम हिंसा न करें, युद्ध न करे, पर हमारा शत्रु तो अहिंसामें विश्वास नही करता, वह तो इसे नही मानता। तव क्या हम सिर झुकाकर वैठ जायें और शत्रुसे कहें कि आइए, पधारिए, हमारा सिर काट लीजिए? यदि हाँ, तो इस तरह विदेशी आक्रमणकारीसे हम अपने देशकी स्वतन्त्रताको कैसे वचाये और न वचायें तो क्या देशद्रोही हो जायें???

दिग्दिगन्तमें गूंजते इस प्रश्नका उत्तर दिया—पुराण-पुरुष प्रह्लादने। प्रह्लादका पिता राजा हिरण्यकशिपु इतना नृशस कि ईश्वरके स्थानमे भी अपनी ही सत्ता स्थापित करनेको आतुर—आकुल और प्रह्लाद महान् ईश्वर-भक्त। दोनोमे सघर्ष स्वाभाविक ही था, पर पिताकी आज्ञामे हिंसाकी समस्त शक्तियां और साधन, पर प्रह्लाद निहत्था और असहाय—एक पहाड, तो दूसरा रोडा।

प्रह्लादने कहा—मैं पिताकी शक्तिका जवाब नही दे सकता, पर उनकी शक्तिका आदेश माननेसे इकार तो कर सकता हूं। क्रुद्ध होकर उनकी शक्ति मुझे कष्ट देगी। मैं उन कष्टोको नही रोक सकता, पर सह तो सकता हूं। सहते-सहते मैं मर जाऊँगा, पर मरनेकी सम्भावना, तो हिंसाका जवाब हिंसासे देनेमें भी है। ठीक है—मैं कष्ट सहूंगा, मिट जाऊँगा, पर झुकूंगा नही।

पुराण पुराण है। जलते लौह-खम्भसे नृसिंहके रूपमें भगवान् निकले, हिरण्यकशिपुका वध हुआ, हिंसा हारी, अहिंसा जीती। लोक-मानस विश्वासी है। वह नही सोचता कि हर गरम खम्भेसे भगवान् नही निकलते; वह सोचता है—हिंसामें लाख शक्ति हो, अहिंसा भी कोई मामूली चीज नही, उसके पीछे दैवकी शक्ति है।

लोक-मानसका यह विश्वास ही सस्कृतिके इतिहासमे प्रह्लादका दान है। यह दान और भी महान् हो उठता, यदि प्रह्लाद उसपर नये प्रयोग करते, पर मालूम होता है कि वे अपनी पहली सफलतासे ही इतने भावाविभूत हो गये कि फिर कुछ भी न कर पाये।

उनके पौत्र बलिने इधर विशेष ध्यान दिया और वह पूर्ण अहिंसा-वादी हो चला, तो प्रह्लादने उसे उपदेश दिया —

न श्रेय. सततं तेजो, न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात, पण्डितैरपवादिता ॥

वेटे, न सदा क्रोध ही कल्याणकर है, न निरन्तर क्षमा ही, इसलिए आचार्योंने निरन्तर क्षमाके लिए अपवादोकी—विशेष अवसरोंके लिए विशेष नियमोकी, रचना की है।

इसका क्या अर्थ ? यही कि प्रह्लाद व्यक्तिगत रूपसे अहिंसाके प्रयोगमें सफल होकर भी उसके सामूहिक प्रयोगका साहस नही कर सके। फिर भी प्रह्लादके प्रयोगने बतलाया कि अहिंसा निष्क्रियता नही है और उसके द्वारा हम हिंसासे टक्कर ले सकते है, उसे परास्त कर सकते है। वह विवशता नही है, उसके प्रयोगमें दैवी सम्भावनाएँ है, उससे चमत्कार हो सकते है, सक्षेपमें अहिसा एक महाशक्ति है।

प्रह्लाद कभी हुए हो, न भी हुए हो, उनका यह दान जन-मानसकी अमूल्य धरोहर है।

## गांधीने कहा

एक ओर हिंसाकी सम्पूर्ण शक्ति और साधनोंसे सम्पन्न ब्रिटिश राज्य और दूसरी ओर निहत्थी, उदास और असगठित भारतीय जनता। पहला दूसरेकी छातीपर यो सवार कि प्रार्थना सुने, न चीत्कार और दूसरा यो दवा-घुटा कि हिलनेमे भी असमर्थ।

क्या दोनोमें युद्ध सम्भव है ? किसीने हाँ नही भरी और सव दिशाओमें सन्नाटा छा गया। तव सुनाई दी गान्धीकी गम्भीर वाणी—हाँ, सम्भव है और सचमुच २७ वर्षोमें गान्धीने असम्भवको सम्भव करके दिखा दिया।

अभीतक युद्ध-शास्त्रका सिद्धान्त था—शत्रुको इतना कष्ट दो कि वह सह न सके, मिट जाये। अव यह सिद्धान्त हो गया—शत्रुको कष्ट न देकर स्वय उसके द्वारा इतना कष्ट सहो कि शत्रुका हृदय वदल जाय, वह शत्रुता छोड दे।

मैं पशुओंमें हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ!

अभी तक युद्धका लक्ष्य था—शत्रुका नाश करना, अब उसका लक्ष्य हो गया—उसे मित्र बना लेना।

अभी तक विजयकी कसौटी थी—जो अधिक मारेगा वह जीतेगा। अब कसौटी हो गई—जो अधिक सहेगा, वह जीतेगा।

और इस प्रकार गान्धीने पशु-प्रवृत्ति युद्धको मानवीय संस्कृतिकी कसौटी—पशुसे भिन्न व्यवहार—पर खरा उतार दिया। प्रसंगान्तर न हो, तो कहूँ—युद्ध और संस्कृतिका एकीकरण ही विश्वके इतिहासको गान्धीकी सबसे बडी देन है।

## तत्त्वज्ञान

हमारी संस्कृतिका तत्त्वज्ञान क्या है? पहले यह कि हमारी क्या? संस्कृतिमें भेद नहीं है—संस्कृति हिंदूकी, मुसलमानकी, ईसाईकी, यहूदीकी नहीं होती, मानवकी होती है। वह पूर्वकी, पश्चिमकी, रूसकी, अमरीकाकी, फ्रांसकी, भारत की भी नहीं होती—मनुष्यकी यह आत्मचेतना कि मैं अनेक बातोंमें समानता होनेपर भी पशु नहीं हूँ, उससे भिन्न हूँ, श्रेष्ठ हूँ, सर्वत्र समान है, इसमें भेद क्या?

हाँ, संस्कृति अपने वश—विकास मण्डल (सभ्यता, समाज, धर्म और दर्शन) के द्वारा जिस तत्त्वज्ञान (जीवन-कला-विचार और कर्मकी प्रक्रिया) की रचना करती है, देश-प्रदेशकी परिस्थितियोंके कारण उसमें भेद सम्भव है, सहज है।

भारतमें यह तत्त्वज्ञान किस रूपमें प्रस्फुटित हुआ, उसने जन-जीवनमें क्या स्वरूप लिया, इसका अनुभव एक दिन मुझे विचित्र रूपमें हुआ।

भाई रघुवीरशरणको मरे चौथा दिन था और हम सब उनके फूल चुनने श्मशान गये थे। अस्थियाँ सचयकर एक थैलीमें भरी गईं और चिताकी

राख इकट्ठी कर, उसकी एक ढेरी बना दी गई। प्रथाके अनुसार बाँसीके वृक्षकी एक टहनी उस ढेरीपर रोप दी गई।

इसका क्या अर्थ? यह नये जीवनका प्रतीक था। भारतीय तत्त्व-ज्ञानके अनुसार मृत्यु अन्त नही, नाश नही, एक परिवर्तन है। **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**—हम इधर मरते है, उधर जन्मते है। इधरकी सध्या उधरका प्रभात है। मृत्युकी यह प्रसन्नता-पूर्ण कल्पना हमारे जीवनकी एक विभूति है। चिताकी राखपर वृक्षारोपणकर हम इसीकी घोषणा करते हैं।

देरीसे हवन-सामग्री आनेके कारण वृक्षारोपणके बाद हवन किया गया। अग्निमें सामग्री छोडनेपर वैद्य जगदीशचन्द्रजीने देखा, सामग्रीके साथ एक कीडा जल रहा है। बडी फुर्तीसे, अत्यन्त कोमलताके साथ, उन्होने अपनी अगुली जलाकर भी उसे बचा लिया।

इस क्षुद्र कीटका जीवन क्या, पर उसे बचानेकी एक भारतीयको इतनी चिन्ता है कि वह अपनी अगुली जलनेकी भी चिन्ता नही करता। जीवनकी यह महत्ता, जीवमात्रके प्रति यह आकर्षण, जीवनके प्रति यह दिलचस्पी हमारे जीवनकी दूसरी विभूति है।

सोचा—भारतीय तत्त्वज्ञान जीवनको एक खेल मानकर भी जीवनकी उपेक्षा नही करता और उसके अनुसार जीवनका स्वरूप यह है कि हम पृथ्वीको स्वर्ग बनानेके सघर्षमे मृत्युका भय छोडकर जूझते रहे और या तो हम अपने श्रमसे पृथ्वीको ही स्वर्ग बनाकर जीवनके आनन्दका उप-भोग करें अन्यथा ऐसा करनेके प्रयत्नमे ही अपने जीवनका उत्सर्गकर यश और आत्म-तुष्टिके स्वर्गमें अपना सिहासन स्थापित करे।

जीवनका यह कितना परिपूर्ण चित्र है—मधुर, उज्ज्वल, आशा एव आनन्दमय!

# जब हम सिर्फ़ एक इकन्नी बचाते हैं

मेरठकी नौचन्दीमें एक शानदार कवि-सम्मेलन था। मैं न कवि हूँ न गायक और कवि-सम्मेलनमें इन्हींकी ज़रूरत पड़ती है, तो मैं एक गैर ज़रूरी चीज़ था, पर साथियोंने पकड़ मँगाया था, तो था वहाँ— शायद प्राचीन युगके पण्डेकी तरह, शायद इस युगके गाइडकी तरह !

रातमें दरबार-कैम्पमें कवि-सम्मेलन होना था और उसके पास ही टेंटमें कवि लोग खाना-पीना कर रहे थे। कायदा है कि कवि-सम्मेलन होनेसे पहले कवियोंकी खूब आवभगत होती है, पर उसके बाद वे अक्सर अपने बिलके लिए संयोजकजीको खोजते फिरा करते हैं या अपना बिस्तर स्वयं ढोये तांगा स्टेंडकी ओर बढ़ते दिखाई दिया करते हैं।

इसी बीच आंधी उठ आई, बादल घिर गये और वह दौंगड़ा पड़ा कि दरबार-कैम्पकी हालत उखड़ते मेले जैसी हो गई। कवि-सम्मेलन दूसरे दिनके लिए स्थगित हो गया—कोई और रास्ता ही न था; अब प्रश्न था कवियोंको शहरतक पहुँचानेका।

श्री बालमुकुन्द 'अनुरागी' ने मित्रभावसे कहा—मेरे पास दो कम्बल हैं, इन्हें उढ़ाकर सब साथियोंको हम तांगा-स्टेंडतक ले जायेंगे और वहाँसे तांगा पकड़ लेंगे, पर संयोजक अपने अतिथियोंको पूरा आराम देनेके पक्षमें थे, इसलिए उन्होंने गर्वोक्तिके स्वरमें कहा—"नहीं जी, सबको मोटरमें भेजते हैं'—पर मोटर वहाँ कहाँ थी ?

वे बोले—"दिल्लीसे श्री ..जी अपनी मोटरसे आये हैं, उसमें चले जायेंगे सब।"

"वह मोटर नहीं मिल सकती !" शान्त दृढ़तासे अनुरागीजीने कहा, तो संयोजकजी बोले—'वाह साहब, मोटर क्यों नहीं मिल सकती, हमने

उनके परिवारके लिए अपने खर्चेसे टैण्ट लगवाया है और सौ इन्तज़ाम किये है।"

अनुरागीजी चुप रहे और सयोजकजी अपनेको कम्बल और आत्म-विश्वासमे लपेटते-से बाहर चले गये। तभी अनुरागीजीने मुझसे कहा—"लो, सयोजकजी तो माने नही, पर अब यह फैसला होगा कि श्री . जी धनपति है या धनपशु ?"

तभी आंधीका एक नया रेला आया और हमारा टैट गिर-गिरूँ हुआ कि हम उधर लग गये और बात हवाके झोको चढी उड गई। सयोजक-जीने आकर कहा—"वे कहते है, यात्रामें ड्राइवर थक गया है। थोडा आराम कर ले, तो अभी छोड आयेगा।" हम सब समझ गये कि उन्हें अपनी नई गाडीके खराब होनेकी चिन्ता है, पर अनुरागीजी बोले—"भाइयो, कम्बल ओढो, चलो, फैसला हो गया।"

उनके वाक्यने औरोको सुलझाया, तो मुझे उलझा दिया—जिसके पास धनका सग्रह है, वह धनपति, फिर यह धनपशु क्या है ?

मित्र-साथी परिस्थितियोका रस लेते रहे, मैं सोचता रहा। उलझे रहना मेरे स्वभावके विरुद्ध है, पर उलझन तो है ही कि धनपति और धनपशुके मध्यकी भेद-रेखा कहाँ है ? क्या है ?

श्री जी धनपशु है, यह फैसला हो गया, पर वे धनपशु क्यो हैं ? इसलिए कि उन्होने मनुष्यकी अपेक्षा अपनी सम्पत्तिको अधिक महत्त्व दिया, तो उलझन सुलझ गई कि जो आदमी अपने सगृहीत धनको महत्त्व दे वह धनपति, पर जो उसे मनुष्यकी अपेक्षा भी महत्त्व दे, वह धनपशु, जिसके लिए ससारमें धन ही सर्वोत्तम !

मै भी बातचीतमे लग गया, पर मुझे लगा कि सत्य अभी अधूरा ही हाथ आया है।

[ २ ]

इस घटनाके कोई १० वर्ष बाद। मैं उस दिन देहरादूनसे मसूरी जा रहा था। बसमें जहाँ मैं बैठा, उससे अगली जुड़वा सीटपर दो सज्जन बैठे थे। एक प्रौढ़, एक तरुण। आमतौरपर मेरा ध्यान साथी यात्रियोंपर नहीं जाता, क्योंकि एकान्तमें बाहर कम, भीतर ज्यादा देखना, तो यात्रामें भीतर कम, बाहर अधिक देखना मेरा स्वभाव है। फिर पहाड़ी यात्रामें तो आस-पास होता है सजावटके कोटमें घिरा हुआ सौन्दर्य, छछोरपनसे छाई हुई जवानियाँ, दरिद्रताने दलित कुछ मानवात्माएँ और बाहर विराट् प्रकृतिका वैभव, पर यात्राके आरम्भमें ही एक ऐसी बात हो गई कि मेरा ध्यान सामनेवाले प्रौढ़पर जा टिका।

बस चलनेको ही थी कि बादल गहरे हो आये, तो उन्होंने जोरसे कहा—"क्यों ड्राइवर, ऊपर तिरपाल भी डाल दी है। हमारा रेडियो रक्खा है। पूरे १००० रुपयोंका है।" उन्होंने 'पूरे एक हजार' का जिस ढंगसे प्रयोग किया, उसने मेरे कानोंके पर्देपर एक ऐसी टकोर दी, जो बहुत देर गूंजती रहती है।

ड्राइवरने उन्हें विश्वास दिलाया कि रेडियो सुरक्षित है। ड्राइवर जरा नीचे उतरा, तो उन्होंने क्लीनरको बुलाकर कहा—"अरे, हमारा एक हजार रुपयेका रेडियो ऊपर रक्खा है।" उसने भी उन्हें आश्वासन दिया। अब वे स्वयं नीचे उतरे और बसके चारों ओर घूमे—आँखें ऊपर किये हुए। लौटे, तो आप ही आप यह कहते हुए—"एक हजारकी रकम है।" मैंने सोचा—एक हजार रुपये रेडियोकी कीमत है या इस आदमीकी बात-चीतका नारा?

बस चली, तो वह प्रौढ़ उस तरुणको बताने लगा कि हम कितनी सब्जियाँ लाये हैं। देहरादूनसे दो सेर पालकका साग ।) रु० में लिया

और मसूरीमें यह मिलता है १) रु० सेर, तो इस तरह एक रुपया बचा। तोरी, भिण्डी, टेण्डस, अदरक, नीम्बू, मूली, सबका हिसाब जोडा। बीच-बीचमें वह भूल गया, तो फिर जोडा। कुल मिलाकर सात रुपये बचे थे। यों हम राजपुर पहुँचे।

राजपुरसे बस चली, तो चारो ओर प्रकृतिका स्वर्ग। तभी अपनी डायरीमे कुछ लिखनेको तरुणने अपना फाउण्टेन पेन निकाला, तो उस प्रौढने कहा—"कितने रुपयेका है तुम्हारा पेन ?" वह मामूली पेन था। तब प्रौढने भीतरकी जेबसे निकालकर अपना पेन तरुणको दिखाया "यह १५० रुपयेसे ज्यादाका है।"

फिर गर्वमें डूबकर बोला—"मैंने यह पाँच रुपयेमें लिया था। एक पहाडी लडका इसे बार-बार खोलकर देख रहा था। मैं भाँप गया कि यह अपने सेठका उडाकर लाया है। बस, मैं उसे अपने साथ घर ले आया। पाँच रुपये नकद दिये और अपने लडकेका पुराना कुरता। वह सुसरा इसकी कीमत क्या जानता ? टूट जाए, तब भी ४५ रु० कम्पनी देती है इसके।"

मैंने यह सब सुना, तो अधमरा-सा हो गया। सोचा—आज हम जिसे दूसरेके घर चोरी करनेकी लत डालते हैं, वह कल हमारा नौकर भी हो सकता है और तब वह हमारे ही घर हाथ साफ करेगा। सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे हम कितने दिवालिया हो गये हैं ?

पेन जेबमें डालते समय एक कागज उनके हाथको लगा। निकाला, तो कहींसे आया हुआ लिफाफा। मैं देख रहा हूँ कि वे उस लिफाफेको बहुत गौरसे देख रहे हैं। यो क्या देख रहा है यह जानवर ? मेरे भीतर यह प्रतिक्रिया फूटी कि उसने तरुणकी तरफ लिफाफा बढाकर पूछा—"देखना इसके टिकटपर मोहरका निशान तो नही पडा—यह तो दूसरे लिफाफेपर

लग सकता है ?" और तब बहुत खुश होकर बोला—"वाह-वाह, लिफाफा भी आया और टिकट भी साथ लाया, यहाँ भी दो आने बचे।"

सोचा—आजकल हर चीज़ महँगी है, सिर्फ ईमान सस्ता है और तब याद आई महाकवि कालिदासके रघुवंशकी यह बात कि ऋषि लोगोको खेतोपर सिला चुगनेसे जो अन्न प्राप्त होता था, उसका छटा भाग राज्य-करके रूपमें वे अलग रख देते थे, पर उसे लेने राजाका कोई आदमी आता न था, तो वे उसे अपने उपयोगमें न लेकर वापी-तडागके तटोपर धो देते थे—'षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः'।

एक दिन हमारी ईमानदारी, देशकी सामूहिक व्यवस्थामें अपना भाग अर्पित करनेकी हमारी निष्ठा इस रूपमें थी, पर आज एक खाता-पीता आदमी अपने स्वतन्त्र देशकी सरकारको दो आनेका भी धोखा देनेको तैयार है !

बहुत ही सुन्दर प्रदेशसे होकर बस गुजर रही थी। मैं उस सौंदर्यमें उलझ चला, पर तभी याद आ गई मुझे मेरठवाली उस घटनाकी और मैंने सोचा कि उस दिन धनपशुके स्वरूपका सिर्फ ज्ञान हुआ था, यह उसका साक्षात्कार है।

अब यह सूत्र मेरे हाथोमें आ गया था—जो जीवित मनुष्यकी अपेक्षा अपने जड धनको अधिक महत्त्व दे वही नही, जो सत्यकी अपेक्षा, न्यायकी अपेक्षा धनको महत्त्व दे, वह भी धनपशु है।

[ ३ ]

उस दिन कलकत्तेसे चला, तो रेलके डब्बेमें नीचेकी एक बर्थपर मैं था। सामनेकी बर्थपर एक तरुणी, ऊपरकी बर्थपर उनके पति और मेरे ऊपरकी बर्थ खाली।

सोनेका अभी समय नहीं था। वे दोनो नीचेकी बर्थपर बैठे बातें करने

लगे और मैं वाहरका दृश्य देखने लगा। रात अंधेरी थी, पर मीलोंतक कलकत्तेका वैभव रेलके साथ दौडता है, जैसे विज्ञानका दैत्य विज्ञानकी प्रदर्शिनीके बीचसे फुंकारता जा रहा हो।

अचानक किसीने मुझे छुआ-सा, तो मैंने भीतर झांका। तरुण महाशय मेरी बर्थके नीचे कुछ देख रहे थे। क्या है भैया ? मैंने पूछा, तो बोले—इन्होंने अभी-अभी उंगलीसे अंगूठी निकाली, तो वह चटककर जाने कहाँ जा गिरी ?

मैंने तकियेके नीचेसे टार्च निकालकर चमकाया और कोनेमें छुपकर-रूठकर बैठी-सी उनकी अंगूठी मिल गई। मैं लेट गया—अब वे दोनों मेरे सामने थे।

अंगूठीको तर्जनीमें चक्रकी तरह घुमाते हुए तरुणीने कहा—"मौसीकी हालत तो थी नहीं कि वह प्रेजेण्ट (उपहार) दे, पर अंगूठी उसने दे ही दी। कितने रुपयेकी होगी यह ?"

"पुखराज तो इसका अच्छा है, काफी दामकी होगी।" तरुणने कहा और वे दोनों इतनी नहीं-इतनीके ऊहापोहमें उलझ गये, पर तरुणीको सन्तोष न हुआ। तब अंगूठीको अनामिकामें पहनते हुए उसने फैसला दिया—"इलाहाबाद पहुँचते ही इसे जौहरीको दिखाऊँगी।"

बिजली बुझा दी गई, डब्बेमें अन्धेरा हो गया, पर मेरे भीतर जिज्ञासा-का यह जुगनू चमकता रहा—मौसीकी ममता और अंगूठीका सौन्दर्य इन लोगोंको प्रभावित नहीं कर पाया और वस इनकी दिलचस्पी सिर्फ इस वातमें है कि इसका मूल्य क्या है, यह कैसी मनोवृत्ति है ?

यह जुगनू भभककर लैम्प हो गया, जब मैंने सोचा—निश्चय ही ये दोनों पक्के धनपशु हैं।

[ ४ ]

उस दिन देहातोंके बीचसे होती मोटर बस जा रही थी और मैं सोच रहा था कि भारतके विशाल क्षेत्रको, उसके हर ग्राम और कस्बेको रेलकी पटरीसे जोड देना, तो शताब्दीके बाद भी असम्भव ही रहेगा, पर हम उसे पक्की सडकसे अवश्य जोड सकते हैं और इस तरह हमारे देशमें मोटर व्यवसाय और व्यापार, दोनोंका ही भविष्य उज्ज्वल है।

तभी एक अड्डेपर मोटर ठहरी। पासका गाँव तो छोटा-सा ही है, पर दो सडकोंका यह जकशन है, इसीलिए अड्डा बन गया है। मेरी ही सीटपर एक सरदारजी अपना उर्दू दैनिक पढनेके बाद अपनी मोटी रानके नीचे दाबे बैठे थे।

तभी एक देहाती किशोरने बसमें झाँककर देखा और विनयके स्वरमें कहा—"सरदार जी, हमारे गाँवमें लाइब्रेरी है। उसके लिए अपना अखबार दे दो।"

"आज हम दे दें, तो कल कहाँसे आयगा तुम्हारी लाइब्रेरीमें अखबार?" सरदारजीने पूछा तो किशोरने कहा—"कल किसी और भाईसे ले लेंगे। हम रोज इसी तरह कर लेते हैं सरदारजी!"

उचित प्रश्नका उचित उत्तर था, पर इस औचित्यमें औद्धत्यका यह दानव सहसा कूद पडा—"अखबार लेना है, तो दो आने दो।" लडकेने हाथ जोडे, वह गिडगिडाया, पर सरदारजी अटल रहे। बस चली, तो आप ही आप बोले—हम तो 'बपारी' हैं, यों माल मुफ्त बाँटने लगे, तो हमारा दिवाला खिसक जाये।"

सुनकर सोचा—'बपारी' है या नहीं यह सरदार धनपशु अवश्य है।

[ ५ ]

एक दिन बूढा चाटवाला आया, तो घर-पडौसके बच्चे मुझे लिपट

गये—"हम तो चाट लेंगे, हम तो लेंगे।" सबको चाट दिला दी। वे चाट खाते रहे, मैं एक चटपटी गोष्ठीका आनन्द लेता रहा, पर दूसरे दिन अधिकाश बच्चोकी तबियत खराब थी।

फिर एक दिन बूढा आया और मैंने उसे धीरे-धीरे चरखीपर चढाया, तो पता चला कि बरसातके इस बुसाऊ मौसममें पहले दिन जो चाट बिकनेसे बच गई थी, उसे भी उसने दूसरे दिनकी चाटमें मिला दिया था।

मैंने सोचा—यह गरीब चाटवाला भी, जो दूसरोंके स्वास्थ्यसे अपने कुछ पैसोको अधिक महत्त्व देता है, पूरा धनपशु है।

[ ६ ]

चाटवाला चला गया, तो मैं पिछले १५ वर्षोमें बिखरे धनपशुताके इन सूत्रोंको मिलाकर एक सीधा-सच्चा, पर समर्थ सूत्र बनाने लगा। धागे मिलते रहे, टूटते रहे, जुडते रहे और तब यह सूत्र हाथ लगा—

'जीवनमें हम क्या करे, क्या न करें? इस प्रश्नके समाधान और निर्णयका मापक तत्त्व है सत्य, न्याय, औचित्य और सौन्दर्य—हमारा हर निर्णय सत्यसे, न्यायसे, औचित्यसे और सौन्दर्यसे समर्थित हो, पर इनकी उपेक्षा करके जब हम अपने निर्णयको धनके लाभ या बचतकी दृष्टिसे करते है, तो धनपशु हो जाते है, भले ही यह लाभ या बचत एक आना हो या एक करोड रुपये, क्योकि धनपशुता धनपतित्वका अनिवार्य अग नही, यह एक वृत्ति है—एक आनेका एक शब्द कम करके जो मनुष्य तारकी स्पष्टता, उसका सौन्दर्य नष्ट करता है, वह भी निश्चय ही धनपशु है।

[ ७ ]

और तब मुझे याद आ गई वह ऐंग्लो इडियन महिला, जिससे अचानक उस साल शिमलेमें परिचय हो गया था। मिस नार्मन साडियोकी एक बहुत बडी दूकानमे सेल्समैन थी और उसका मुख्य काम था ग्राहक स्त्रियोको

एकान्त कमरेमे साडी पहनाकर खरीदारीके लिए तैयार करना, दूसरे शब्दोमे साडियोंके चुनावमें सहायता देना।

मै यो ही एक पत्रकारकी भ्रकमें दूकान देख रहा था कि एक दम्पति आये। दोनो साहब थे, पर यह तय करना कठिन था कि दोनोमें अधिक काला कौन है। श्रीमतीजीने ४-५ साडियाँ चुनी और मिस नार्मनके साथ कमरेमें चली गई। वहाँसे वह करीनेके साथ जो साडी पहने हुए आई, उसका रग गाढा था और किनारे इतने भारी कि देवीजी मुझे साभी-सी लगी।

उनके पतिने मिस नार्मनसे रग और भारीपनकी शिकायत की, तो वे एक दूसरी साडी दिखाकर बोली—"भद्र पुरुष, मेरा समर्थन तो इस साडीको प्राप्त है, पर श्रीमतीजीकी पसन्द उसके पक्षमें है।" सचमुच वह साडी बहुत फबनेवाली थी।

पतिने रुपया दिया और चले गये। तभी मैंने आगे बढकर कहा— "मेरी बहन, क्या मै इस साडीको देख सकता हूँ?" सम्बोधनसे वह प्रसन्न हुई और साडी उसने मुझे दिखाई। इस साडीकी कीमत २३५) रुपये थी और जो वे ले गई उसके दाम थे ३६२) रुपये।

"माफ करना बहन, एक प्रश्न है कि आप उसे कम कीमतकी साडीका सुझाव क्यो दे रही थी?" मैंने गहरे होकर पूछा, तो बहुत ही सधे स्वरमे मिस नार्मनने कहा—"मेरे भाई, मेरा काम ग्राहकोके बटुये खाली कराना नही, उन्हे चुनावमें सहायता देना है।"

मैं उसे धन्यवाद दे लौट आया, पर इतने वर्षोंके बाद भी मिस नार्मन मेरे सामने खडी है और उसके साथ ही वह काली मेम भी—वही बेतुकी साडी पहने और पहने क्या, बस लादे।

मैं सोच रहा हूँ इन दोनों महिलाओंके ठीक बीचोबीच धनपति और धनपशुकी वह विभाजक रेखा खिंची है, जिसे मैं इतने वर्षोंसे खोज रहा था। यह काली महिला है धनपशुका प्रतीक, क्योंकि इसके चुनाव-का आधार है धन और यह गोरी महिला है धनपति, क्योंकि इसके सुझावका आधार है सौंदर्य, औचित्य और न्याय !

# चिड़िया, भैंसा और बछिया

[ १ ]

पेट तो भर गया, पर आधी रोटी थालीमें शेष है। भीतरसे एकने ताना फैलाया—'अरे, खा भी लो, दो टुकड़े ही तो है, और दूसरेने वाना भर दिया—'तुम तो कभी जूठा छोड़ते ही नहीं, बस चार बार मुंह और चलाओ कि थाली साफ।'

देख रहा हूं ताना भी ठीक है और वाना भी ठीक, पर आहार-विहारमें मै इतना भोला होता और ऐसी सिफारिशे सुना करता, तो अबतक तीन बार प्लूरिसीमे मर चुका होता!

फिर छोड़िए मरने-जीनेकी बात, दो टुकड़ोंके मोल रात भरकी खट्टी डकारे खरीदना, मुझे तो कुछ बुद्धिका व्यापार दिखाई नही देता।

मै उठ खड़ा हुआ, पर इस आधी रोटीके सदुपयोगकी बात मेरे मनमें थी, तो आधी रोटी हाथमें लिये, मै बाहर आया कि चिड़ियोंको चुग्गा दूं, पर देखता हूं कि ठेलेवालेका भैंसा सामने बंधा है।

चिड़ियोंका हमारे जीवनमे भला क्या संबंध? सुबह-ही-सुबह नींद उचाटनेवाली चूं-चूं और घरमे तिनके-चीटोंका कूड़ा। हूं' चली बड़ी चिड़ियाकी बच्ची यहींकी! भैंसा हमारे लिए उपयोगी है, समाजका बोझ ढोता है, सो काम करता है।

भीतरसे किसीने यह ताना-वाना पूरा कि मैं अपनी आधी रोटी लिये भैंसेकी ओर बढ़ा, पर देखता हूं, सामने ही खड़ी है पड़ोसके बाबूजीकी बछिया। गायके प्रति हिन्दूकी सहज निष्ठा है। मै उस ओर खिंच गया और बड़े चावसे वह रोटी मैंने बछियाको खिला दी।

[ २ ]

रोटी खिला दी, काम निमटा, पर काम कहाँ निमटा, मेरी रजाईकी मुलायम बुक्कलमें कहींसे यह एक प्रश्न जो उभर आया है—क्यों जी, ममता जो मानवकी सहज वृत्ति है, उसमे यह उपयोगिताका भेद कहाँसे आ घुसा? क्या यह ममताकी शुद्धताका सहारक है या उसकी दिशाका सूचक?

प्रश्न अपनेमें साफ है, पर मै उसे ज़रा और भीतरतक समझना चाहता हूँ। मेरे पास धन है मै उसे कुकर्मोमें उडा रहा हूँ। मेरे पास धन है और मै उसे सुकर्मोमें लगा रहा हूँ। मेरे पास धन है, पर न मैं उसे खाता हूँ, न खर्चता हूँ, बस दबाये बैठा हूँ।

हमारे भीतर एक बोध वृत्ति है, जो कहती है कि पहली और तीसरी बात बुरी है और दूसरी अच्छी है। मनकी बात है, बिना किसी बहस-दलीलके मनमे समा जाती है—हाँ जी, दूसरी ही बात अच्छी है, फिर भी यह पूछनेकी गुंजाइश तो है ही कि क्यों अच्छी है?

उत्तर साफ है कि उपयोगके आधारपर और यह उत्तर साफ है, तो यह निष्कर्ष भी साफ है कि उपयोगिता ही जीवनका एक मानदण्ड है, जो हमारी प्रवृत्तियोका मूल्य आंकती है।

मैंने सोचा—तब मैंने ठीक किया कि रोटी न चिडियोको दी, न भैंसेको खिलाई, बछियाको भेंट कर दी। अपने निर्णयकी प्रशसासे मेरा आपा आप ही आप भर गया और मै सुखसे लेट गया।

[ ३ ]

लेटते ही मुझे याद आ गई, अपने पुराने पडौसी रामदयालकी। उनके तीन पुत्र थे। बडा था भगड—शामको ऐसी चकाचक छानता था कि गुच, हाथी कटडा दिखाई दे, तो भैस भौरा, पर लुत्फ यह कि नशेकी झोकमें

भी उसे यह ध्यान रहता था कि कैसे वह अपने पिताके पैसे चुराये और नशेकी खुमारीपर रबडीकी तह दे सके।

दूसरा लडका गूंगा—कर्मोके अभिशापोको भोगने ही जैसे जगत्में आया हो—न पढा, न लिखा, कोरा लट्ठ।

तीसरा लडका कचहरीमे नौकर, तनखाह अच्छी और उससे भी अच्छी ऊपरकी आमदनी।

रामदयाल रातदिन अपने छोटे लडकेके गीत गाता और उसकी खूब खातिरे करता। बड़ा लड़का अपनी बदमाशियोंसे मतलब भरको उचक लेता, पर वह गूंगा लड़का कमानेके लायक नही, उचकनेमें असमर्थ—सब तरह दूसरोकी दयापर निर्भर। दूसरे भाइयोंके फटे कपडो और टूटे जूतो-पर उसे जीना पडता।

एक दिन वह कमाऊ पूत भोजनपर बैठा, तो उसमे मक्खी निकल आई। वह बहुत नाराज़ हुआ और जूठा खाना छोडकर उठ गया। बापने सबको गालियाँ दीं, उसे मनाकर लाया और नई थाली परोसकर भोजन कराया।

गूंगेसे कहा गया कि भाईकी जूठी थालीमे वही मक्खीवाला खाना वह खा ले, पर वह तैयार न हुआ। बापको गुस्सा आ गया और गूंगेपर लकड़ी मार पडी। पेटमें भूखकी कचोट, तनपर मारकी चसक और कले-जेमें अपमानका नासूर, बेचारा दिनभर बहुत दुखी रहा।

मेरे पिताने शामको उसे बुलाकर चाय पिलाई, खाना खिलाया और पुचकारा, दुलारा। बाहरसे मैं लौटा, तो सारा किस्सा उन्होंने मुझे सुनाया, और बोले—"कैसा राक्षस बाप है रामदयाल।"

रामदयालकी याद आई, तो उस यादमेंसे झांक पडा, यह प्रश्न—

उपयोगिताके आधारपर ममताका बँटवारा करनेवाला रामदयाल राक्षस है, तो फिर तू ही कहाँका देवता है ?

[ ४ ]

प्रश्न मेरे ही विरुद्ध है, मुझे ही झकझोरता है, पर देख रहा हूँ, इससे मेरे ही भीतर एक मीठी रोशनी फैल रही है और मै सोच रहा हूँ—सम्पूर्ण ममता, अपने-बेगाने, मनुष्य-पशु, देश-विदेश सबके प्रति समान ममता, अखण्ड प्रेम ही देवत्वका पथ है। **'ना जाने किस रूपमें नारायण मिल जायें'** सन्त तुलसीदासकी यह सूक्ति जीवनकी अखण्डताका ही तो निर्देश करती है। धर्म और राजनीति दोनो ही आज इस अखण्डताके विरुद्ध बागी होकर जी रहे है और तभी यह विश्व नरकका अखाडा बना हुआ है।

भोजनके बाद खानेके लिए रक्खा हुआ सेब मै उठकर उठा लाया और मैंने उसके चार टुकडे कर डाले। एक भैंसेको दिया, एक बछियाको, एक अपने मुँहमे और एककी किरचें कर चिडियोको बखेर दी।

मै ऐसी जगह खडा था, जहाँसे भैंसा, बछिया और चिडिएँ दिखाई दे रही थी। हम सब एक ही सेबका रस ले रहे थे और मै हल्के-हल्के यह अनुभव कर रहा था कि हम सबको जीवनका एक ही प्रवाह घेरे चल रहा है।



# पाँच सौ छह सौ क्या ?

डाक्टर भी० ला० आत्रेय अपनी व्याख्यान-यात्रा समाप्त कर अमरीकासे लौटे तो मैंने उनसे कई प्रश्न पूछे। उन्हींमे एक यह था—"आप स्वय एक विद्वान् है और इस नाते निरन्तर अपने देशमें विद्वानोंके सम्पर्कमे रहे है। अमरीकामे भी आप अनेक विद्वानोंसे मिले होगे। क्या वहांके विद्वानोमे और भारतके विद्वानोमें आपको कुछ अन्तर दिखाई दिया ?"

डाक्टर आत्रेयने इसका उत्तर दिया था—"वहांके विद्वान् वहुत 'ऐक्ज़ेक्ट' है और कभी अपने अनुभवसे वाहर नही जाते।"

ऐक्ज़ेक्ट ? और मै रुक-सा गया था, तो उन्होंने कहा था—"हमारे विद्वान् निर्णय पहले कर लेते है और वादमे अध्ययन करके निष्कर्ष निकालते है। हम लोग ऊपरसे नीचे जाते हैं, वे नीचेसे ऊपर आते हैं। वातचीतमे वे उतना ही कहते है, जितना उनके अनुभवमें या अध्ययनमे निश्चित रूपसे आ चुका होता है। इसीलिए उनसे मिलकर एक गहराई और स्थिरताका स्पर्श अनुभव होता है और एक निश्चित परिणामपर हम पहुँचे होते है।"

काम चलाऊ रूपमें उनकी वात मेरी समझमें आ गई थी, पर 'ऐक्ज़ेक्ट' का पूर्ण भाव-स्पर्श मुझे नही हुआ था और कभी-कभी यो ही यह ऐक्ज़ेक्ट शब्द मेरे भाव-मानसमे कुछ खोजता-सा टकराया करता था। तभी मैंने पढा चीनी दार्शनिक लिन यू तागका एक उद्धरण।

उसमे कहा गया था कि अमरीकन और एशियाई मनोवृत्तिमें जो अन्तर है वह इस उद्धरणसे स्पष्ट हो सकता है कि यदि किसी अमरीकन इन्जीनियरको एक सुरग खोदनेका काम दिया जाय, तो वह इतनी वारीकीसे उसका नक्शा वनायगा कि दोनो ओरसे खुदती हुई सुरगें जव वहीं वीचमे

मिलकर एक होंगी तो उसकी सीधमे जरा भी फर्क नही होगा, पर एशियाई इन्जीनियरका नक्शा ऐसा भी बन सकता है कि दोनो तरफसे खुदती हुई सुरगे कही बीचमें मिले ही नही और दोनो आर पार हो जाए। मजेदार बात यह है कि यदि अमरीकन इन्जीनियरकी सुरगमे २-४ इचोका फर्क रह गया, तो वह इसे अपनी बहुत बडी हार मानेगा, पर एशियाई इन्जीनियर सुरगके बीचमे कही न मिलनेपर भी कहेगा—चलो कोई बात नही एक नही तो दो रास्ते हो गये!

पढकर खूब हँसी आई, पर ऐक्ज़ेक्टका ऐक्ज़ेक्ट अर्थ पूरी तरह समझमें आगया। ऐक्ज़ेक्ट, एकदम निश्चित, जिसमे बाल बराबर फर्क न हो!

हम उन दिनों अपने जिलेके शारीरिक प्रदर्शन समारोहकी तैयारियाँ कर रहे थे। रुडकीका फौजी मैदान इसके लिए चुना गया था। एक दिन प्रदर्शनके मुख्य विधाता भाई गगाधर सिंह प्रबन्ध-व्यवस्थाके सबधमे छावनीके फौजी अधिकारीसे मिले। बातो-बातोंमें अधिकारीने पूछा—'प्रमुख दर्शकोंके लिए आपको कितनी कुर्सियाँ चाहिएँ?'

सादगीसे गगाधरसिंह बोले—"यही पाँच छ सौ कुरसियाँ काफी होगी।"

झपाटा मारते-से अधिकारीने कहा—"यह पाँच सौ छह सौ क्या, ५०६, ५१३, ५२५, ५७२ ५८५, ५९५ या ६०० कहिये।"

सचाई यह है कि विचारोमें, बातोमें और व्यवहारमे ऐक्ज़ेक्ट होना, सुनिश्चित होना जीवनकी ऊँचाईका मानदण्ड है। उस दिन मै और श्री ओमप्रकाश मित्तल कहीं जा रहे थे कि एक मित्र मिले। बोले—"कल किसी समय आपसे मिलने आऊँगा।"

मित्तलजीने कहा—"किसी समय नही, इसी समय बताइये कि किस समय आइएगा?"

बात हँसकर कही गई थी, पर ठीक थी, क्योंकि 'कल किसी समय' मे दिनके १०-१२ घण्टे तो थे ही, रातके ४-५ घण्टे भी शामिल थे। इस दशामें कोई किसीने मिलनेको कबतक बैठे; और खासकर उस दशामे जब कि उनका आना-न-आना दोनो सभव है!

वे बोले—"दोपहर बाद आऊँगा।"

वही बात कि वे अपने कार्यक्रममे ऐक्ज़ेक्ट नही थे। न एक बजे, न ढाई बजे, न सवा चार बजे, न पौने पाँच बजे—बस दोपहर बाद!

यही सामने आ गया है गांधीजी और सरदारका एक मजेदार संस्मरण। दोनो किसी मसलेपर बाते कर रहे थे कि रोककर सरदारने कहा—"अजी, छोडिए इन बातोको और यह बात बताइए कि कितनी खजूर भिगोऊँ ?"

"पन्दरह खजूर भिगो दो।" गांधीजीने कहा।

"पन्दरह नही, बीस भिगोता हूँ—अन्तर ही क्या है पन्दरह और बीसमे!" सरदार बोले।

"अच्छा, तो दस भिगो दो।" गाधीजीने कहा।

'ऐं! दस ही ?" सरदार चौंके, तो गांधीजीने कहा—"ऐं क्या; जब पन्द्रह और बीसमे अन्तर नही। तो दस और पन्द्रहमे ही क्या अन्तर है ?"

दस और पन्द्रहमे जो अन्तर है, सो तो है ही, पर सात और आठमे उससे भी बडा अन्तर है, यह उस दिन जाना।

"कहो भाई किस गाडीसे जा रहे हो ?" श्रीओमप्रकाश मित्तलने एक मित्रसे पूछा, तो बोले—" सात-आठ बजेवाली गाडीसे जा रहा हूँ।"

मुसकराकर मित्तलजीने कहा—"आपको गाडी अवश्य मिल जायगी।"

"क्यों, क्या बात है ?' उन्होंने पूछा, तो उत्तर मिला—"नहीं,

कोई खास बात नही, सिर्फ यह बात है कि आप सात बजे स्टेशन गये, तो आपको दिल्ली जानेवाली गाडी मिलेगी और आठ बजे गये, तो अम्बाला जानेवाली, पर गाडी जरूर मिलेगी।"

ओह, एक घण्टेका इतना मूल्य कि पूर्वको जानेवाला यात्री पश्चिमको चल पडे। फिर घण्टा ही तो समयकी सबसे छोटी इकाई नहीं है! उसका साठवां भाग मिनट है और उसका भी साठवा भाग है सेकेंड! देखी तो होगी आपने सेकेण्डकी सुई, जो पलक झपकते अपना चक्कर पूरा कर लेती है?

और यह मिनट और सेकेण्ड, इतने शक्तिशाली तत्त्व है कि मनुष्यका भाग्य बदल सकते हैं, क्योंकि यदि आपके जन्मका समय नोट करनेमें माता-पिता जरा भी चूक गये हो, तो फलित ज्योतिषके अनुसार आपका जन्म-लग्न बदल सकता है और उसके कारण आपके भाग्यका पूरा फलादेश भी। इस दशामें आप एक अच्छी दुलहन पानेसे वचित रह सकते हैं, क्योंकि अब आपकी कुण्डली उसकी कुण्डलीसे नही मिलती!

फिर मिनट-सेकेण्डका मामला पुराण-पथियोका ही तो प्रश्न नही कि हम उन्हे दकियानूस कहकर टाल दें, यह तो एक वैज्ञानिक प्रश्न है। अन्तर्राष्ट्रीय ज्योतिष सम्मेलनने अपने डवलिन अधिवेशनमें आजके सेकेण्डको बहुत बडा मानकर एक नये छोटे सेकेण्डकी रचना की है। इसके अनुसार ६४।। दिनमें मनुष्यको १ सेकेण्डका, प्रतिवर्ष ५।। सेकेण्डोका और प्रति ग्यारह वर्षोमे एक मिनटका लाभ होगा। और भी जरा आगे बढे तो ६५५ वर्षोमे एक घण्टा!

क्या हम उसे उन वैज्ञानिकोकी झक मानें? तेनसिह और हिलैरी एक साथ एवरेस्टपर चढे, पर ससारका यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा कि दोनोमें पहले किसने अपना कदम ऊपर रक्खा? ठीक है कि दोनोमें बहुत अन्तर नही हो सकता, पर इस नगण्य अन्तरके गर्भमे ही एक बडा प्रश्न

छिपा है—'संसारके सबसे ऊँचे शिखरका विजेता पूर्वको माना जाय या पश्चिमको ?' इस बडे प्रश्नका एक काल्पनिक प्रश्न है, जो इसपर तेज रोशनी डालता है—यदि मगल लोकके लिए अमेरिका और भारतमे एक साथ दो जहाज उडे और दोनो ही तीन बजकर पैंतीस मिनटपर मगलमे प्रवेश करे, तो प्रथम प्रवेशका श्रेय किसे मिलेगा ? निश्चय ही उसे, जिसे इस नई छोटी सेकेण्डका समर्थन प्राप्त होगा।

फिर जीवनमे ऐक्जेक्ट होनेके लिए सेकंडो, मिनटो, घण्टो या दिनोका ही तो प्रश्न नही है, उसके लिए एक शब्द और एक स्पर्शका भी महत्त्व है। दोनोका उदाहरण महादेव भाईकी डायरीमे सुरक्षित है।

गांधीजीने उन समयके भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होरको जेलसे एक पत्र लिखाया। उसमे, एक वाक्य था—'मैं आपका बहुत आभारी हूं' पर बादमें उन्होने 'बहुत' शब्द निकलवा दिया।

उसी जेलमे एक दिन सरदार पटेल गांधीजीके लिए सोडा और नीबू पानीमे घोल रहे थे कि उनपर गांधीजीकी तकडी झाड पडी—"क्या आपको नर्सिंगका एक कोर्स देनेकी जरूरत नही है ? देखिए तो, आपने चम्मच ऊपर पकडनेके बजाय ठेठ मुंहके पास पकडा है। यह सारा चम्मच गिलासमे जायगा, इसलिए उस जगह उसको हाथसे छूना ही नही चाहिए। और जिस रूमालसे आपका मुंह पोछा जाता है, उसीसे आपने इस चम्मचको साफ किया। आपको मालूम है कि कोई नर्स आपरेशनके कमरेमे ऐसा करे, तो उसे बर्खास्त कर दिया जाए।"

तो जीवनका नाश करनेवाले दोष प्रमादसे बचिए, ढीलपन और लूलूपन—दोनोसे दूर रहिए, व्यवस्था और नियमितताके नियमोका पालन कीजिए और सक्षेपमे, ठीक तरह काम कीजिए, ठीक समय काम कीजिए, ठीक काम कीजिए, यानी ऐक्जेक्ट रहिए।

———

# बिड़ला-मन्दिर देखने चलोगे ?

उस दिन दिल्लीमे एक मित्रसे मिलने सुबह-ही-सुबह उनके घर गया, तो मिलते ही बोले—"बिडला-मन्दिर देखने चलोगे ?" उनकी सालीजी आई हुई थी और वे उनके साथ बिडला-मन्दिर जानेको तैयार थे। मेरे पास न समय था, न रुचि, मै कुछ देर मित्रसे बाते कर चला आया।

बाज़ारसे कुछ चीजें खरीदी और तब एक दूसरे मित्रके घर जा निकला। समयकी बात, उनके भी कुछ सगे-सबधी आये हुए थे और वे कही जानेकी तैयारीमें थे। छूटते ही पूछ बैठे—"भाई साहब, बिडला-मन्दिर देखने चलोगे ?" मुझे जाना नही था, लौट आया।

दो-चार गलियाँ पारकर चाँदनी चौकमें आया ही था कि एक मोटर मेरे पास आकर ठहर गई। देखा, पूरे परिवार और कुछ दूसरोंके साथ मोटरमे भरे वे कही जा रहे हैं। वे, मेरे एक मित्र और बस वही प्रश्न—"चलिए, चलते है बिडला-मन्दिर देखने ?"

मैंने हाथ जोडे और आगे बढ़ा, पर देखता हूं एक प्रश्न सामने खडा है—ये सब बिडला-मन्दिर देखने जा रहे हैं, तो क्या यह विशाल मन्दिर सिर्फ देखनेके ही लिए है ?

जानता हूँ देखना जीवनका कोई साधारण सुख नही है, आँख है, तो जहान् है, पर मै एक आस्तिक प्राणी हूँ और अशान्तिके अनेक अवसरोपर मन्दिरोंके वातावरणमे शान्ति पा चुका हूँ। हरद्वारमे मीलोकी चढाई चढकर अनेक बार मै चण्डीके मन्दिरमे पहुँचा हूँ और फिर वहाँसे नीचे उतरकर गौरीशकरके मन्दिरमे गया हूँ, शाकम्भरीके वनमे विहरा हूँ और हृषीकेशके वनको पारकर आकाश तककी चढाई चढ मैंने नीलकण्ठके मन्दिरमें भी अपनेको पाया है।

ये सब तीर्थ हैं और जीवनके निर्माणमे, उसे बहिर्मुखतासे मोडकर अन्तर्मुख करनेमे सहायक-साधन है। मैं जब पहली बार बिडला-मन्दिर गया था, मुझे यह बात खटकी थी कि वहां कोई पूजन नही कर सकता, केवल दर्शन कर सकता है, पर दर्शन भी देखना ही रह गया है, यह आज जाना।

दिल्लीका लाल किला भी देखना है और बिडला-मन्दिर भी, वैसे ही, जैसे ससद-भवन भी और क्या वैसे ही कि जैसे सिनेमाका कोई शो भी ?

दर्शन और देखना, देखना और दर्शन, दोनो मेरे भीतर आगे-पीछे घूम रहे है। वे क्या घूम रहे हैं, मैं ही घूम रहा हूं। घूम इतनी तेज है कि अपनी प्रौढ वयमे ही मैं कोई ५-६ वर्षका बालक हो गया हूं और हरिद्वारमे गगा नहाने पहुँचा हूं। मा मेरे साथ है और वह चाहती है कि मैं गगामे घुसकर गोते लगाऊँ, पर इतनी विशाल गगा और यह तेज धारा, मेरी हिम्मत नही होती।

मां जलसे ऊपरकी पैडीपर बैठ गई और उसने मेरा एक हाथ मजबूतीसे पकडकर मुझे दो पौडी जलमे उतार दिया। मां के हाथमे मेरा हाथ है और मैं छबकछब नहा रहा हूं—वाह, क्या आनन्द है ?

और बस मैं फिर बालकसे प्रौढ हो गया हूं। देखता हूं चांदनी चौक-मे चला जा रहा हूं, मेरे भीतर घूम रहे है दर्शन और देखना, देखना और दर्शन और मैं अब पकड पा रहा हूं जीवनका यह सत्य कि दर्शन है मां का हाथ पकडकर गगामे नहाना !

क्या मतलब ? हां, ठीक है, सत्यका सूत्र हाथ आ गया है और उसकी व्याख्या अभी शेष है। हम देवताकी मूर्तिके दर्शन करते है तो माका हाथ पकडकर नहाते ही तो है। मनुष्यके भीतर, उसकी पार्थिव देहके अन्तरमे चैतन्यकी एक विशाल और तेजस्वी धारा बहती है, पर अपनी बहिर्मुखता-

मे डूबे हम उसमें उतर नही पाते, उसके स्पर्शका सुख नही ले सकते, तो अपनी सारी बहिर्मुखताको बाहर स्थित देवताकी प्रतिमामें थमा-अटका, भीतर बहती चैतन्यकी उस धाराका एक नन्हा-सा स्पर्श ले लेते हैं। यही दर्शन है।

और देखना फिर क्या है? प्रश्न ठीक है। देखना एक तो देखना ही है कि जो आँखोके सामने आया दिख गया—देख लिया और एक देखना है विशेष वस्तुका देखना, लाल किलेका देखना, किसी दूसरी सुन्दर वस्तुका देखना, उसका देखना जिसे हम प्यार करते है। यह देखना ही असलमे देखना है और इसका अर्थ है अपनी सारी बहिर्मुखताको, जो यहाँ वहाँ बिखरी है, किसी बाहरी, पर विशेष वस्तुमे एकत्रित करना।

और लो, खरीजका रुपया बनाये दे रहा हूँ—दर्शन है आन्तरिक एकाग्रता और देखना है बाहरी एकाग्रता। पहली विकासका पथचिह्न है और दूसरी विलासका।

दर्शन और देखनाकी धूम पूरी हो गई है, पर एक नया प्रश्न फूट आया है—तो क्या बिडला-मन्दिर भी हमारी 'लक्जूरियस लाइफ' का ही एक चोचला है—वह जीवनकी विलासिताका ही एक अग है? उसका कार्य हमारा मनोरजन करना ही है, मानस-विकास नही? वह दर्शनकी भी नही, बस देखनेकी ही एक चीज है?

मेरे पैर सडकपर इच्छित दिशामे बढे चले जा रहे हैं, पर मस्तिष्कमे वही प्रश्न घूम रहा है—तो बिडला-मन्दिर भी देखना है और लाल किला भी, वैसे ही जैसे ससद भवन और वैसे ही, जैसे सिनेमाका कोई शो भी?

पैरोका काम पूरा हो गया और यह लो मैं अपने मित्रके द्वारपर हूँ। भीतर गया तो देखा, मित्र तो नही हैं, उनकी पत्नी हैं। उन्हे देखते ही मेरा प्रश्न जैसे फूट पडा—"आपने कभी बिडला-मन्दिर देखा है भाभी?"

उत्साहसे बोली—"हाँ भैया, देखने लायक जगह है, वह तो! हमारे यहाँ कोई मेहमान आता है, तुम्हारे भाई साहब उसे जरूर दिखाने ले जाते हैं। क्यों तुमने नही देखा क्या?"

उनके उत्साहसे मैं और गहरेमें उतर गया। हर चीज देखने लायक पर पहुँचती है और मनकी उधेड बुन यह है कि वह कुछ और हो, पर नही, देखने लायक ही है बिडला-मन्दिर! मेरी आस्तिकता विह्वल होकर पूछती है—अरे देखने लायक तो हर तमाशा होता है, इसे तो तीर्थ होना चाहिए, जहाँ निर्माणकी प्रेरणा मिले, निर्माणका उद्बोधन!

मुझे लगा कि मेरे भीतर एक आँधी चल पडी है—विचारोकी, मन्थनकी, चिन्तनकी आँधी और उसीमें कहीसे सुन पडी यह बाँसुरी—"मूर्ख, धन तमाशेका ही निर्माण कर सकता है, तीर्थका नही, तीर्थका निर्माण करनेकी शक्ति तो केवल तपमें है!"

आँधी शात हो चली है और तीर्थके वातावरणमे मेरा मन भर उठा है। मैं यह भूल गया हूं कि कहाँ, किसके निकट हूं और मेरी आँखें बद हो गई है, हाथ भी परस्पर आ जुटे है।

भाभीने मुझे इस मुद्रामें देखा है और चुटकी ली है—अरे भाई, यह क्या पूजा-सी कर रहे हो?

प्रश्नने मुझे समेट लिया है मैं अपनेमे सिमट आया हूं, पर अनुभव कर रहा हूं कि मैं अभी हाल किसी तीर्थमे भक्ति भावसे आत्मचिंतन कर लौटा हूं।

# छोटा-सा पानदान; नन्हा-सा ताला

उस दिन दिल्ली जा रहा था। खेतोंमें प्रकृतिका महोत्सव हो रहा था। उगे-उभरे गेहूँके खेत, हरी मखमलके कालीनसे ,और बीच-बीचमे पका-पनपा ईख,सरसोकी पीली छिटक, तो मटरके तितलियोंसे होड बांधते रग-बिरगे फूलोकी बहार। देखो तो आँखें ठडी हो, सोचो तो दिमागमे कारीगरीके पौधे खिल जाये और समझो तो बस समझनेको कुछ बाकी न रहे, जगलका हर पत्ता एक उपन्यास हो रहा था।

इसी उपन्यासको पढते-पढते रेलके डब्बेमे झाँका, तो देखा मेरे सामने-वाले सज्जन अपने छोटेसे पानदानसे निकालकर पानका टुकडा खा रहे हे। अरे साहब, उन्होने पान खाया और पानदानपर एक नन्हा-सा ताला लगाकर रख दिया।

मै फिर अपने खेतोमे उलझ गया और यो ही फिर डब्बेमे झाँका, तो वही दृश्य कि उन्होंने पानदान निकाला, ताला खोलकर पान लगाया-खाया और सावधानीसे ताला बन्दकर रख दिया।

क्या इस आदमीके इतने दुश्मन है कि इसे पानमे भी विषका भय है ? या यह आदमी इतना सकीर्ण है कि अपना पानदान अपनोंसे भी अछूता रखना चाहता है ?

ये दो प्रश्न मनमे उठे तो सही, पर इनका समाधान कैसे हो ? यह लिपटी हुई जन्मपत्री खुले कैसे ?

मैंने उस आदमीकी आकृतिका अध्ययन आरभ किया। उम्र कोई ६० साल, स्वास्थ्य साधारण, चेहरेपर कठोरता और रौब। मुझे लगा कि पानदानके तालेका मार्ग कही इधर ही है और तब मैंने उन्हे बातचीतकी खरादपर चढाया। पता चला कि हजरतके घरमे बेटे है, पोते है, पोतियाँ

है, वहुए है, पेंशन आती है, घरवाली मर गई है, वेटे मामूली हालतमे है—पढानेकी बहुत कोशिश की, पर पढे ही नही कम्वख्त। आप भी मामूली उर्दू जानते है। पिछली लडाईमे लडे थे। कई इनाम मिले। अब रुपया सूदपर चलाते है।

इस जानकारीको मथकर मैंने यह सार निकाला। बूढा, अपत्नीक, फौजी और सूदखोर। विपका इसे खतरा नही, लोभ और चिडचिडेपनकी तस्वीर है यह ताला।

अब मुझे अपनी परीक्षा करनी थी। मैंने प्रश्नका वाण निशानेपर रक्खा—"मालूम होता है किब्ला, पोती-पोते बहुत तग करते है। इस तालेसे आपने उनका खूब इलाज किया है।"

बूढेकी आवाज़ गले आते-आते रुकी, तो मैने सिसकारी दी—"सचाई यह है बडे मियाँ कि बच्चोका हाथ पडनेसे पानका मजा किरकिरा हो जाता है।" बूढेजी खुल पडे—"बच्चे तो है ही साहव, पर बहुएँ उनसे भी बढकर शैतानकी परकाला है। एक मिनट चैन नही लेने देती—ज़रा आँख बची कि पान साफ।"

मै अपनी परीक्षामे पास हो गया था और अब बूढेमे मुझे कोई दिल-चस्पी न थी, तो मै फिर अपने खेतोमें था और सोच रहा था—यह ताला बूढेके पानदानपर नही, जीवनके आनन्द स्रोतपर ही लगा हुआ है।

मेरे गलेमे एक गुनगुनाहट आ समाई और उसमेंसे प्रस्फुटित हुई रवीन्द्रनाथकी वे पक्तियाँ, जिनका भाव है—"मै पाप और कल्मपसे अपनेको बचानेके लिए, चारो ओरके द्वार बन्द कर बैठ गया। वाहरसे सत्य-पुण्यने पुकारा, द्वार बन्द है, कैसे हम तुझतक आये?"

ठीक ही है, जो तालेमें बन्द है, उनतक कोई कैसे पहुँचे? फिर यह कोई सत्य हो या पुण्य, आनन्द हो या रस।

[ २ ]

और ताला, क्या लोहे पीतलका ही ताला, जैसा वडे मियाँने अपने पानदानपर लगा रक्खा है?

प्रश्न अजीब है, अजीब कुछ अद्‌भुत नही, निरर्थक-अर्थहीन, क्योकि ताला होता ही लोहे पीतलका है, पर ना, प्रश्न सार्थक है—सार्थक ही क्यो वहु-अर्थक है, अनेक अर्थवाला।

निरर्थक और सार्थककी समीक्षामे ध्यान ८००० फीट ऊँचे एक पर्वतीय नगरमे चला गया है। लताओका एक निकुज और उसमे सटकर विछी सीमेटकी वेच। पर्वत, वन, एकान्त और शीतल वातावरण। मै वैठा हूं, कही आस-पास कोई नही है, आँखोमे पर्वतके शिखर है, तो मनमे भारतके भविष्यकी झाँकी। जीवनके कितने स्रोत प्रवाहित हो रहे है उस भविष्यमे कि सारा वातावरण रससे ओतप्रोत है। वाह, कैसे सजीव गाँव, कैसे लहलहाते खेत, हँसते-खेलते वालक, उभरते तरुण, उत्फुल्ल रमणियाँ और शान्त-प्रसन्न वूढे। गाँवकी यह ताजगी मुझपर छाई जा रही है।

तभी तीन सज्जन कहीसे उस वेचपर आ गिरे! अशिष्ट होकर नही, सत्यदर्शी होकर कह रहा हूं—आ गिरे! कोई एकान्तमे आकर जाने किस ध्यानमे वैठा है, इसका उनके लिए कुछ अर्थ हो न था। मै उन्हे देख रहा हूं और सोच रहा हूं ये तीनो भौन्दू पढे लिखे है, पर इन्हे यह ध्यान ही नही है कि कहाँ वैठे, कैसे वैठे और कैसे वातचीत करे। मैने झुककर उन तीनोके पैरोकी ओर झाँका। उनमे कोई भी लगडा न था। इस वेचसे कुछ दूर आगे दूसरी अनेक वेचे विछी हुई थी और यह दस कदम चल वहाँ वैठ सकते थे, पर नही इन्हे यही वैठना था।

वातोमे जाना कि तीनो तीन कालेजोके प्रिसिपल है। एक वोले—"वडे धूर्त होते है हमारे स्टूडेण्ट। ऐसी सफाईसे धोखा देते है कि वडे-

वडे जालसाजोको मात माननी पडती है।" दूसरा उभरा और उसने विद्यार्थियोकी धूर्तताके कई किस्से सुनाये। तीसरा शिक्षा-विभागके अधिकारियोकी बेवकूफियोका वर्णन करने लगा और बस उनकी बाते उनके कालेजोके क्लासोके घेरेमे घूमती रही।

मै थोडी ही देरमे ऊब गया और उठ चला। चलते-चलते मैने सोचा—विचारोकी सकीर्णतामे कुएँके मेढकको सबसे अधिक अभागा कहा गया है, पर ये प्रिसिपल क्या उनसे भी अधिक अभागे नही है कि पर्वतोकी इस प्राकृतिक गोदमे बैठकर भी अपनी चारदीवारीके अतिरिक्त और कुछ सोच ही नही सकते!

एक दूसरी बेचपर बैठते-बैठते मेरे मनमे आया—सरकार उपयोगिताके आधारपर अपने नियम बनाये, तो इन तीनो और इसी तरहके दूसरे अध्यापकोंको गरमीकी छुट्टियोमे स्कूल-कालेजोके पाखानोकी धुलाई, छतोकी घास-खुदाई, दीवारोकी लिपाई, कमरोकी पुताई और आँगनोकी सफाईके काममे लगाये। एक दिनके लिए भी कही जाने न दे!

इस घटनाको हुए, बरसो बीत गये, पर आज सोचा—क्या बड़े मियाँके पानदानकी तरह इन लोगोके दिमागोपर ताला नही लगा था? और लगा था—हाँ, लगा ही था—तो क्या यह ताला लोहे-पीतलका था? ना, यह वातावरणका ताला था, उस लोहे-पीतलके तालेसे भी अधिक कठोर और मज़बूत!

[ ३ ]

दिल्लीकी यात्रामे एक दृश्य सदा ज्यो का त्यो मुझे देखना पडता है। मुज़फ्फरनगरसे कुछ लोग रेलके डब्बेमे आजाते है और मेरठतक चलते है। डब्बेमे ये १०-५ आदमी क्या आते है, नई मण्डी ही घुस आती है—उरदका भाव, गेहूँका भाव, गुडका भाव, मीर्फेका भाव और सरसोका

भाव तो तुलता ही है, बीजकोंके सौदे भी छनते है और आढतियोकी चालाकियाँ भी खरादपर आ जाती है। ये लोग इतने जोर-जोरसे बोलते है, कई-कई एक साथ बोलते है कि और कुछ सोचना असभव हो जाता है। असम्भव क्या, वस इतनी देर दिमागको मण्डीकी खत्तियोमे वन्द रखना पडता है।

उन बेचारोको देखकर, मन दयासे द्रवित हो जाता है और मै सोचने लगता हूँ, इनके लिए दुनियामे खत्तियाँ है, बीजक है, भाव है, और वस और कुछ नही है, कुछ भी तो नही है—उनमेंमे कोई मेरा दैनिक माँगकर देखता भी है, तो वस मण्डियोंके भावोका पन्ना ही पढता है।

और मुझे याद आ जाते है अपने नगरके वे दूकानदार, जो मगलकी छुट्टीके दिन भी अपनी तालावन्द दूकानके बाहरी तख्तेपर ही पसरे जम्भाइयाँ तोडते रहते है और उन्हीके शब्दोंमे जिनको शिकायत है—"वावूजी, यह अच्छी मनहूस छुट्टी है कि दिन काटे नही कटता।"

[ ४ ]

विद्वान् तपस्वी और सन्यासी, तीनो गुण एक साथ और रूँगामे कर्मठ भी—रात-दिन धर्म-रक्षाकी चिन्तामे लीन। यो ही एक वार मुझे भी सम्पर्क प्राप्त हो गया। घण्टो साथ रहा, पर उनकी किसी वातका सम्बन्ध न विद्वत्तासे, न तपस्यासे, न वैराग्यसे, न कर्मसे। हर वात १६ वी सदीकी, हर वात जडताकी और हर वातका वस यही अर्थ कि ज्ञानका सूर्य, अतीतमे निकल चुका, वुद्धिकी रोशनी सदियो पहले फैल चुकी। आजके मनुष्यको कोई नई वात नही सोचनी—किताव देखकर तिलिस्मके दरवाजे खोलते जाना है।

देख-सुनकर वडी दया आई कि वेचारा घर कुटुम्वकी ममताका घेरा तोडकर सफेदमे रगीन हो गया, पर विचारोंके तालेको न तोड सका।

मेरे नगरके ही एक सज्जन है। २१ वर्षकी उम्रमे पुलिस दारोगा हुए थे, ५७ की उम्रमें पेशन पाई और अब ८२ वर्षके है। यो समझिये कि चौथाई सदी पहले दारोगा थे, पर आज भी सारा शहर दारोगाजी कहता है। कोई भूला-भटका बाबूजी कह दे, तो उन्हे ऐसा लगता है कि यह मेरी चपरास छीन रहा है। तालेमे बन्द है बेचारे और क्या ?

एक और परिचित है। मर-मारकर डिप्टी हो गये है और अब उनकी बीवी और बेटा, तो उन्हे डिप्टी कहते ही है पर दुखी है कि माँ अब भी उनका नाम ही लेती है, उन्हे डिप्टी नही कहती।

अजी छोडिए इस डिप्टी और दारोगाको, वर्माजी और केशोजीको लीजिये। वर्माजी विख्यात लेखक है और लेखक क्या है लेखकोके महन्त है। पहली बार मै दर्शन करने गया, तो बहुत प्रभावित हुआ उनकी बातोमे। अपने सगहकी कथा उन्होने सुनाई और तब कई नेताओके सस्मरण। मैने सोचा—ज्ञान, सग्रह और सपर्क, तीनो दृष्टियोमे ये महान है और उठते-उठते जब उन्होने कोई २० वर्ष पहले प्रकाशित मेरे एक लेखकी प्रशसा की, तो उनकी स्मरण शक्ति और सहृदयताका मुझपर बहुत ही गहरा प्रभाव पडा।

और केशोजी ? वे एक बडे नगरके पत्रकार है। कोई ३० वर्ष हुए एक साधनसपन्न साथी उन्हे मिल गया था और वे भभक उठे थे। तब उस नगरमे वे ही वे थे। कोठी थी, फोन था, कार थी, रौब था, धूम थी—अजी, क्या न था, यह था, वह था सभी कुछ था। कुतुबमीनारसे लुडके कि बस लुडके और फिर उठनेका नाम नही लिया।

जब पहली बार मिले, तो उसी सूर्योदयकी कथा कही और जिन अनेक लेखकोको मै सिर झुकाता हूँ, उन्हे अपना निर्माण बताया। उनकी विशिष्टताका मुझपर गहरा प्रभाव पडा।

यह प्रभाव काफी गहरा था, पर दूसरी वारके मिलनमें वह कच्चे रगकी तरह उड गया, क्योकि वर्माजीने और केशोजीने मुझसे वे ही वाते की—दूसरी वार ही नही, तीसरी, तीसवी और सौवी वार भी वातोका घेरा वही रहा और अव तो मेरे मनकी स्थिति स्पष्ट है कि उनसे मिलता हूं, तो पहले ही एक पुराना और घिसा रिकार्ड सुननेके लिए अपने कानोको तैयार कर लेता हूं।

स्पष्ट है कि वर्माजी और केशोजी और ऐसे ही दूसरे सैकडो-हजारो जी समयके तालेमे वन्द है—उससे वाहर झाकनेकी न उनमें इच्छा है, न शक्ति—ओह, वेचारे अपने ही समयके कैदी, एक ऐसे तालेमे वन्द, जिसके निर्माता भी वे स्वय ही है।

[ ५ ]

अब्राहम लिकन अमरीकाके प्रेजीडेट और अपने समयकी दुनियाके वडे आदमी, जिनके चारो ओर काम ही काम।

कार्यालयसे लौटकर अपने मकानमे थे कि उनका राज्य-सचिव उनसे मिलनेको आया। प्रेजीडेटने कहलाया "इस समय राज्यकी, राजनीतिकी वात मुझे पसन्द नही, मै अपनी घरेलू जिन्दगीके वातावरणमे हूँ।"

राज्य-सचिवको देशके एक नाजुक मामलेमें उनका आदेश लेना है और इस आदेशके मिलनेमें विलम्व हो, तो देशकी हानि हो सकती है, यह अनुरोध उनतक पहुँचा, तो उन्होने राज्य-सचिवको भीतर ही वुलवा लिया।

प्रेजीडेट अपने भीतरके वरामदेमे एक घुटन्ना और वनियान-सा पहने घुटनो और पजोके वल घोडा वने हुए घूम रहे थे और एक सवारके रूपमें उनका वच्चा उनकी पीठपर वैठा उन्हे हाँक रहा था।

सचिवसे उन्होने कहा—देखते है आप कि यह राज्यका नही, मेरे वच्चोका समय है और इस समय मै किसी देशका शासक नही, इनकी एक

सवारी भर हूं। इसलिए आपकी बात सुननेके लिए रुकना तो मेरे वसका नहीं, हां, मेरे साथ घूमते-घूमते आप अपनी बात कह सकते हैं और मेरा आदेश सुन सकते हैं।

विख्यात दार्शनिक काट जिस दिन अपने घर रहते, भोजनपर भिन्न-भिन्न विषयोंके २-३ विद्वानोंको निमन्त्रित करते थे। उनका नियम था कि वे अपने विषयकी बात न चलाकर दूसरोंकी बात सुनते रहते थे।

पोपको जब समाजके लोगोंने अभिवादन किया, तो हाथ उठाकर पोपने उसका जवाब दिया। उन्हें बताया गया कि पोपके लिए अभिवादनका उत्तर देना आवश्यक नहीं है।

उन्होंने कहा—मुझे पोप बने अभी इतना अधिक समय नहीं हुआ कि मैं प्रथाओंका बन्दी हो जाऊँ और मनुष्यताके साधारण नियमोंको भुला दूं।

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डनने उत्तर प्रदेशकी विधान सभाका स्पीकर (अध्यक्ष) चुने जानेपर भी पार्टीकी सदस्यता छोडनेसे इकार किया, तो विरोधी दलने कहा—ससारमें यही प्रथा है कि स्पीकर किसी पार्टीका सदस्य नहीं रहता।

टण्डन जीने कहा—मेरा काम पुरानी प्रथाओंको तोडना भी है और नई प्रथाओंको बनाना भी।

जीवनकी स्वतन्त्रताका तकाजा है कि हम अपनेको तालेमें बन्द होनेसे बचाएँ। यह ताला लोहे-पीतलका ताला हो या वातावरणका, या फिर अन्धविश्वासका, झूठी प्रतिष्ठाका या पुरानी प्रथाका।

जीवनका सुख बन्दी होनेमें नहीं, उन्मुक्त होनेमें है। तालेसे बचिये और लगे तालोंको तोड़िये!

# शरद्‌ पूर्णिमाकी खिलखिलाती रातमें !

[ १ ]

किसी भी पूर्णिमाकी रात मुझे उल्लास और मस्तीसे भर देती है, फिर उस दिन तो थी शरद्‌ पूर्णिमाकी रात, उन्मद, खिलखिलाती और पूरे जगको अपने आँचलमे समेटे उमडी पडती-सी।

फिर मै मध्यभारतकी आनन्दपूर्ण यात्रासे लौटता, और निर्वन्ध तो नही, पर निर्वाध दौडी चली जा रही देहरा एक्सप्रेसपर सवार !

यह है छोटा-सा मोडक स्टेशन, जहाँ मध्यभारतकी उर्वरा श्यामा धरित्री राजस्थानकी रक्त-सिंचित पथरीली पृथ्वीसे गले मिलती है।

राजस्थानी इतिहासके रोमाचकारी पृष्ठो और चाँदनीकी अठखेलियोमें आँखमिचौनी-सी खेलता मै अपनी खिडकी पर बैठा हूँ।

दूरपर पहाडियाँ है, वीचमें जगल हैं, मैदान है, कही-कही छोटे झरनोका धीमा प्रवाह है और पुराने किलोकी टूटी चारदीवारियाँ, चौकियोकी वुर्जियाँ विखरी पडी हैं।

कोई कहने-वतानेकी वात है कि ये जड खण्डहर है—निर्जीव निरे पत्थर, पर क्या यह भी कोई कहने-वतानेकी वात है कि इन खण्डहरोंमें हरेकका एक जीवित व्यक्तित्व है—वोलता-जागता, प्राणोकी धडकनोंसे स्पन्दित होता, पुकारता और ललकारता व्यक्तित्व !

हमारे कहानीकारोको प्लाट नही मिलते, लेखकोको विषय नही सूझते और भावोकी तितलियाँ कवियोकी पकडसे ऊपर उडा करती हैं। काश, ये सव इन जड-जीवित खण्डहरोकी वाते सुने और यहाँ विखरी कहानियो, लेखो और कविताओको वटोरे—वटोरे कि वटोरते ही रहे !

गाडी चल रही है कि पहाडियाँ ? पुराण कहते हैं पहले वे उडा करती

थी, उठा करती होंगी, पर आज तो वे स्थिर हैं। फिर यह क्या कि कभी व पास आ जाती हैं और कभी फिर दूर सरक जाती हैं ? क्या वे अपने मनकी कोई बात मनुष्यसे कहनेको उत्सुक हैं, पर झिझकती हैं कि उनकी बात यह आदमी समझेगा क्या ?

और अचानक मैं अपने डब्बेमें झांक रहा हूं तो उसमें ७-८ सहयात्री हैं। क्या कर रहे हैं ये लोग ? एक तो पढ़ रहे हैं गन्दी कहानियोंकी कोई पत्रिका, दूसरे एक सी. आई डी. सिरीजकी जासूसी पुस्तक, दो फूंक रहे हैं सिगरेट और कलेजा, २-१ कर रहे हैं बकवाद, यानी कोस रहे हैं जवाहरलालको और उन प्रश्नोंपर दे रहे हैं बढ़ावढ़ सम्मतियाँ, विशेषज्ञोंकी तरह, जिनका अभी अ आ इ ई भी वे नहीं जानते और बस एक है कि लिखे जा रहा है सोच-सोचकर अपना हिसाब !

और बाहर चाँदनी बरस रही है, जिसमें जीवन है, आनन्द है, रस है, एकाग्रता है।

पहाड़ियाँ दूर चली गई हैं और जंगलोंका स्थान खेतोंने ले लिया है। खेतोंमें हरियाली है, जीवनका सौंदर्य है। मैं देख रहा हूं कि मैं दोनों ओरकेहरे-भरे खेतोंके बीचसे दौड़ा जा रहा हूं कोई ४०-५० मील प्रति घंटाके वेगसे !

कुछ कैसा-कैसा लग रहा है यह ? वैसा नहीं, वैसा, वैसा नहीं ! वैसा कैसा जी ? खेत सदासे मेरे मित्र हैं, मैं अक्सर उनके बीचसे गुजरता हूं, कभी दौड़कर, तो कभी धीमे-धीमे और सदा ही मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं अपने सहृदय मित्रोंकी गोष्ठीमें आ गया हूं, पर आज मुझे वैसा अनुभव नहीं हो रहा है।

आज भी मैं उनके बीचमें हूं, पर उनका वैसा जीवनस्पर्श नहीं पा रहा हूं। क्या आज वे खामोश हैं ? ना, बात यह है कि मैं आज उनके बीचसे, उनके पाससे गुजर ही नहीं रहा हूं—उनके बीचसे गुजर रही है एकसप्रेस

और उसमे मै बैठा हूं, तो जब मै उनमे हूं ही नहीं, तो उनका सुखस्पर्श कैसे पाऊँ ?

तो क्या विज्ञानकी हाटपर हम सुखके मोल सुविधा ही खरीद रहे है ?

मुझे याद आ गई वह नन्ही-सी चिडिया जो उस दिन मेरी बराबरीमे उड-उडकर कलाबाजियाँ कर रही थी। मै रेलके पुलपर खडा था, धरतीसे कई सौ फीट ऊँचे और वही वह उड रही थी।

अचानक मेरे मनमे प्रश्न आया था कि ऊँचाईमे तो मै और यह समान ही है, फिर आकाश-भ्रमणका जो सुख इसे मिल रहा है, मुझे क्यो नही मिल रहा ?

चिडियाको इस प्रश्नसे खीझ हुई थी और अपनी ची-चीमें उसने कहा था—हम दोनोकी ऊँचाई समान है, पर मै हूं यहाँ अपने पखोंके सहारे और तुम खडे हो मुर्दे लट्ठोपर, तुम्हे भला यह सुख कैसे मिले ?

चादनी बरस रही है, खेतोपर, पर्वतोपर, वृक्षोपर और मै सोच रहा हूं उस चिडियाकी बात ! मन भी कम्बख्त अजीब फुदकैया है कि कहाँ खेल, कहाँ चिडिया और कहाँ वे एक राज्यके राज्यपाल ! पूरे जिलेके दौरेमें मै उन्हे देखता रहा। पार्टियोमे उनका दिन बीता, तो समारोहोमे रात, बराबर वे जनताके बीच रहे, पर क्या जन-सम्पर्क था यह ? ना, ना, क्यो ? क्योकि उनके पदकी प्रतिष्ठा और राजकीय वातावरणका घेरा जो उनके एव जनताके बीच बना रहा।

चाँदनीके अथाह सागरमे तैरते हुए मेरे मनने सोचा—हमारे देशके महापुरुष लोकोत्तरताके इसी घेरेमे घिरकर अवतार हो गये—परमात्मा, परम पुरुप, परमेश्वर, उनका जीवन-चरित्र भक्तिकी कथा बन गया, पर हमारे देशकी जनतामे नित्य पूजित होकर भी वे उसकी सकटमें मानी मनौतियोका ही केन्द्र रहे, उसे चरित्र न दे पाये !

## शरद् पूर्णिमाकी खिलखिलाती रातमें !

चांदनी बरस रही है और एक्सप्रेस छोटे स्टेशनोंको छोड़ती, उनपर उपेक्षाकी एक दृष्टि डालती बढ़ी चली जा रही है, जैसे ज्ञानी जगत्के प्रलोभनोंको देखता भर है उनमें उलझता नहीं।

यह आई छोटे-से स्टेशनकी फाटकचौकी, जिसकी छोटी-सी कोठरीमें रहता है फाटकदारका परिवार, जिसे मिलते हैं थोड़े-से सिक्के, जिनसे वह जी पाता है, पर अपनी दृष्टिमें वह है एक अफसर कि जब चाहे दरवाजा बंद कर दे और टुकर-टुकर खड़ी ताका करे गाँवके ठाकुरकी बैलगाड़ी! "कहीं दूरपर भी रेलका धुवाँ दिखाई नहीं दे रहा!" तो न दिखाई दे, इससे मतलब? आखिर उसीका निर्णय तो यहाँ माना जायगा कि कब वह फाटक खोले और कब वह बन्द करे!

मैं देख रहा हूँ, उसका छोटा-सा कुत्ता अपने पूरे वेगसे गाड़ीके साथ दौड़ा जा रहा है। बेवकूफ, क्या खाक दौड़ेगा भला रेलके साथ! क्या पिद्दी और क्या पिद्दीका शोरबा?

पर नहीं, वह जी तोड़कर दौड़ रहा है—घोड़ों और खोजोंके एक नाथ नेता हिजहाइनेस आगा खाँका घोड़ा भी डर्बीकी दौड़में इससे तेज और क्या दौड़ता होगा?

तीन पलमें वह पिछड़ गया और अब वह धीरे-धीरे लौटकर जा बैठेगा फिर फाटकदारकी खाटके पास। रोज हारता है, पर शर्मसे डूब नहीं मरता; निर्लज्ज कहींका!

बिना मेरी यह धिक्कार सुने, वह लौटा जा रहा होगा, पर मेरी यह धिक्कार सुन मेरा मन लौट पड़ा है। रोज-रोजकी पराजयसे जिसकी आँखोंमें समाया विजयका स्वप्न और पैरोंमें उमड़ा अभियानका संकल्प परास्त नहीं होता, वह फाटकदारका कुत्ता हो या किसी राष्ट्रका सिपाही, क्या एक प्रेरक चरित्रका सरक्षक नहीं है?

प्रश्न गूंज रहा है, चांदनी स्वर्गका प्रसाद बांट रही है, एक्सप्रेस दौडी जा रही है, पहाडियां दोनो ओरसे पास आती जा रही है,—दराके स्टेशन-पर तो लगता है कि वे दोनो हाथोंसे जैसे ऐक्सप्रेसको अपनी ही गोदमें ले लेगी-मां जैसे दूरसे दौडकर आते शिशुको लाडसे थाम लेती है—और डब्बेके साथी यथापूर्व अपनी कहानी, किताब, सिगरेट, बकवाद और हिसावमे तल्लीन है।

[ २ ]

यह आगया गगापुर स्टेशन, पर यह होहल्ला कैसा है—चढते-उतरते यात्रियोका होहल्ला तो यह है नही, क्योंकि उसकी धुन जिस तारपर चलती है, वह है उतावलापन और यह होहल्ला जिस धुरीपर घूम रहा है, वह है पीडासे ओत-प्रोत बदहवासी।

क्या बात है? बात क्या है? बात है यह कि एक डब्बेमे आग लग गई है, वह काट दिया गया है और अब आधी रातके समय उस डब्बेके यात्री प्लेटफार्मपर भाग-दौड कर रहे है कि सामान सेफ रहे, साथी सब एक साथ रहे और दूसरे डब्बेमें जगह मिल जाय।

हमारे डब्बेके सामने भी १०-१२ आदमी आ खडे हुए—दीन शरणार्थीकी तरह, जैसे भीतरवाले तो है मालिक और बाहरवाले हैं भिखारी—"बाबूजी, हमें अगले स्टेशन महावीरजी पर ही उतर जाना है। जरा-सी जगह दीजिये, आपको बडा पुण्य होगा।"

"ऐ! यह इण्टर क्लास है, ड्योढा, ड्योढा, आगे जाओ!" यह जवाहरलालके आलोचक रौबसे गरजे।

"पीछे, पीछे, सब खाली पडा है पीछे!" यह जासूसी उपन्यासके पाठकने दरवाजा रोककर कहा।

मैंने दूसरा दरवाजा खोलकर कहा—"इधर आजाइये आप लोग!"

वे सब लोग चढ गये और मेरे साथियोंने मुझे घूरा, जैसे किसी भंगीने कर-पात्री स्वामीका दण्ड छू दिया हो, पर मेरे कपडोकी सफेदी उनके कण्ठमे भर-सी गई। बाकी यात्री तटस्थ रहे, पर आनेवाले आपसमें इतने जोर-जोरसे बातें करने लगे कि किसीके लिए भी सोना असम्भव हो जाय।

मैं फिर अपनी चांदनीमे नहाने लगा, पर तभी मेरे मनमें आया यह प्रश्न कि आजके मनुष्यका आकर्षण न प्रकृतिमे है, न मनुष्यमें, तो फिर किसमें है ?

मेरे सामने थे, उसी डब्बेके पहले यात्री, जिनमे कुछ पढते रहे गन्दी कहानियाँ, कुछ जासूसी उपन्यास, कुछ फूंकते रहे सिगरेट, कुछ करते रहे बकवाद और एक लिखता रहा अपना हिसाब ही हिसाब !

और मेरे सामने थे इसी डब्बेके नये यात्री, जो इस चिन्तासे मुक्त थे कि दूसरोंकी नींद खराब न हो।

[ ३ ]

तो आजके आदमीकी दिलचस्पी आदमीमे नहीं है; यह निष्कर्ष मेरे मनमें आया कि वहीं उभर खड़ा हुआ यह प्रश्न—तो क्या आजके आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें नहीं है ?

चांदनी और चिंतन एक साथ मुझे अभिभूत कर रहे है। चाँद-नीमे सौन्दर्य है, जो आंखोको पलक झपकनेसे रोकता है, तो चिन्तनमे स्मृतियां है, जो विचारोंके वाहनपर चढी चली आ रही है।

एक्सप्रेसके लिए अभी दिल्ली दूर है, पर मैं दिल्ली पहुँच गया हूँ। एक मित्रने वहां अपने व्यापारका कार्यालय बनाया और काम करने लगे। बस्तीके सभी रिश्तेदार, जाने कितनी गलियोंमें घुमाकर उनके जीवनके चौराहेसे अपने बगली रिश्तेदारी जोडता एक तरुण आया और उनके कार्यालयमें काम पा गया।

एक दिन शामको एक स्त्री कही बाहरसे आई और मेरे मित्रके कमरेमे ठहरी। उस तरुणने जानना चाहा कि यह कौन है, पर जान न पाया।

रातमे उस मित्रके कमरेके पिछले हिस्सेमे सीढी लगाकर चम्पालाल झांकने लगा कि अपने प्रश्नका समाधान पा ले, पर सीढी धोखा दे, रपट पडी, तो तरुणजी छतसे पत्थरोपर धडामसे गिरे और छिते-मो छिते ही, दो हड्डियाँ भी ककडी-सी मडक गई। यह स्त्री मेरे मित्रकी पत्नी थी, जो जोडे हुए रिश्तेसे उस तरुणकी बुआजी हुई।

[ ४ ]

पातमे पात और बातमे बात, मुझे याद आ गया विद्यालयका सहपाठी शम्भू। किसीका पत्र आये, वह उसे पढ लेता। इधरसे ताकता, उधरसे झांकता, आगपर सेकता, पानीमें भिगोता, ताला खोल लेता और चील-झपट्टा करता, पर पढता जरूर। पेटका पतला, जो पढता, सबसे गाता-फिरता।

अक्सर इसी धुनमें डाकखाने पहुँच जाता, सबके पत्र ले आता, रास्तेमे कही बैठकर सबको पढता और फिर पत्रके साथ हरएकको नया रिमार्क देता। ये रिमार्क उसके चनाजोर गरम होते। किसीके पत्रमे यदि होता कि उसकी माँ उसे याद करती है, तो रिमार्क होता—"अबे तेरी मतारी स्यापा ले रही है, जाकर आंसू पोछ आ।" यदि किसी विवाहित विद्यार्थीकी पत्नी अपने पिताके घर चली गई है, तो रिमार्क होता—"अबे बछियाके ताऊ, तेरी जोरू मेरे सालेके साथ भाग गई।"

तग आकर एक योजना बनी और कई पत्र ऐसे आये, जिनमे शम्भूकी माँ बहिनोका स्तुतिगान ऐसे शब्दोमे किया गया था कि शब्दालकारोकी बस प्रदर्शिनी ही समझिये। शम्भूने आदतके अनुसार ये पत्र भी खोले—पढे, तो तबियत तर हो गई और उसने सबके सामने कसम खा ली।

मैं सोच रहा हूं कि चम्पालाल और शम्भू अपने अनन्त रूपोंमें क्या सर्वत्र सुलभ नहीं हैं ? और हैं, जैसा कि हैं ही, तो फिर आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें कहाँ नहीं है ?

हममें कितने हैं, जो किसीके खुले दरवाजेके सामनेसे निकल जायें और पलक मारते भीतरकी एक-एक चीजका सर्वेक्षण न कर लें ?

गंगापुरमें चढ़े यात्री महावीरजी पर उतर रहे थे और मैं सोच रहा था—मनुष्यका आकर्षण मनुष्य और जीवनकी भिन्न-भिन्न दिशाओंमें आज भी है, पर वह अस्वस्थ हो गया है और युगके प्रवाहमें स्नानकर उसे स्वस्थ और स्वच्छ होना है।

चाँदनी खिल रही थी, खेल रही थी, बिखर रही थी, बरस रही थी और एकप्रेम दौड़ी जा रही थी राजधानीकी ओर। मैंने एक बार पूरी तरह चाँदनीको आँखोंमें भरकर पलकोंमें पलकें मिला दीं।



# गरम ख़त; ठण्डा जवाब !

"गरमी खावै अपनेको, नरमी खावै गैरको !"

यह मेरे पिताजीका फार्मूला था।

"सौ गालीका एक गाला, मारी फूंक उडा।"

यह भी उन्हीका वचन है।

एक दिन उनके पास जात-बिरादरीके एक चौधरी आये और आते-न-आते गरम होने लगे। मुझे अब याद नही कि क्या बात थी। पिताजीने उनके ५-७ वाक्य सुने और तब सहज भावसे बोले—"चलो भाई, बांयके कुएँपर चले।"

अब जिस छोटी-सी बगीचीका नाम बांयका कुआ पड गया है, वहाँ पहले एक वापी थी। अब वहाँ मृत्युके बादका कर्मकाण्ड होता है और एक कोनेमे अखाडा है, जहाँ नगरके कुछ लोग कसरत-कुश्ती किया करते हैं। वहाँ चलनेका निमन्त्रण उन्हें सहसा पिताजीने दिया, तो वे ऐसे चौंके, सोचमे पडे कि अपनी भूल गये।

अचकचाकर बोले—"क्या है बायके कुएपर?"

"अखाडा है।" पिताजीने बहुत सादगीसे कहा।

"तो फिर?"

"फिर क्या था! तुम्हारा जी इस समय लडनेको कर रहा है और मैं हो गया हूँ बूढा, तो वहाँ इब्राहीम मिल जायगा या तोता पहलवान, उनसे तुम्हारा जोड बँधवा दूंगा। बस तुम्हारी तसल्ली हो जायगी और मेरा पीछा छूट जायगा।"

सुनते ही उन्हे हँसी आगई और हँसते ही पिताजीने चायका गिलास

उनके आगे किया। चायकी गरमीमें मिल, उनकी गरमी उनके ही पेटमे चली गई, तो वे लड़ते क्या?

मांका स्वभाव गरम था। कभी वे बहुत तेज हो उठतीं, तो पिताजी हँसकर कहते—"अच्छा सूर्पनखाकी झांकी फिर सजा लेना, इस समय तो कामकी बात कर।" उनके कहनेका ढग ऐसा होता कि लपटे मुस्कानमे बदल जाती।

एक दिन बोले—जब दूसरा आदमी तुम्हारी तरफ जलता अगारा फेंके, तो क्या करोगे? गेंदकी तरह उसे उचक लोगे, तो तुम्हारा हाथ जलेगा या नही? अक्लमन्दी इस बातमे है कि तुम उसकी सीधसे हट जाओ। यही बात गुस्सेकी है।"

बात बस वही पूरी हो गई, पर आगे चलकर जब मैं सस्कृत पाठशालामे पढ़ने गया, तो उसने जीवनमे मुझे एक बड़ा उपयोगी नियम बनानेमे बड़ी मदद की।

उस पाठशालामें एक विद्यार्थी था। बड़ी अजीब "हॉबी" थी उसकी। वह सबको गालियां भरी पर्चियाँ लिखा करता और उनके बदलेमें जब दूसरे भी लिखकर या जबानी उसे गालियाँ देते, तो वह खूब हँसता—दूसरोंकी गालियोंमें रस लेता और उन्हे अपनी सफलता मानता।

कई बार गुरुजीकी बेंतने भी उसे दीक्षा दी, पर इसमे उसने एक नया नुसखा निकाला कि बदलेमें लिखे हुए गाली-पत्र वह सुरक्षित रखने लगा और जभी उसकी शिकायत होती, तो वह उन्हे दिखाकर कहता—"ये लोग ही मुझे गालियां लिखते है गुरुजी!"

बस, इसके बाद गुरुजी तक बात पहुँचनी बन्द हो गई और पाठशालामें गाली-युद्ध पूरे जोरोंसे चलने लगा। इस युद्धमे वह एक तरफ अकेला और दूसरी तरफ बीसों विद्यार्थी। वे उसे छांट-छांटकर गालियां लिखते, पर वह

रोज एक-न-एक ऐसी नई गढता कि सुनारकी सौ चोटें, लुहारकी एक ही चोटमे पूरी हो जाती।

जान-पहचानके बाद एक दिन उसने मुझपर अपना निशाना साधा और एक छोटे छात्रके हाथ मुझे पर्चा भेजा। लिखा था—'मेरी कानी जोरुके भाई साहब—दूसरे शब्दोमें—मेरे प्यारे सालग्रामजी, क्या आपके पास एक नया निब है ?"

पर्चा पढकर जी भुन गया, पर तभी मुझे अपने पिताके बोल याद आये। तुरन्त मैने एक पर्चेके साथ नया निब उसे भेज दिया। पर्चेमे मैने लिखा था—"प्रिय भाई, आपका पत्र पढकर खूब हँसी आई। तुम तो वीरबलके अवतार मालूम होते हो। निब भेज रहा हूँ।"

यह पत्र और निब उसके लिए नया अनुभव था। शामको मुझसे मिला और लिपट गया। माफी भी माँगी। बादमे उसने मुझे कभी वैसा पर्चा नही लिखा और धीरे-धीरे उसने यह आदत ही छोड दी। एक दिन वह मुझसे बोला—"तुम्हारे पर्चेने गालियोका मजा ही किरकिरा कर दिया यार!"

इस अनुभवके बाद मैने नियम बना लिया कि गरम बोल हो, गरम व्यवहार, या हो गरम खत, उत्तरमें अपनी ओरसे गरमी गलत!

जीवनमें मै अपने इस निर्णयपर कभी नही पछताया और सच तो यह है कि मुझे जिन निर्णयोंसे जीवनमे सबसे अधिक सफलताएँ मिली, उनमे एक यह भी है।

मुझे जीवनमे अक्सर गरम खत मिले है और मैंने उनका ठण्डा जवाब दिया है। जवाबकी ठण्डक गरम पत्र भेजनेवालेकी गरमीको पी जाती है और वह सोचता है कि सचमुच बडी बेवकूफी होगई।

गान्धीजी ठण्डे खत लिखनेकी कलाके आचार्य थे। १६३१ मे वे

लन्दनकी गोलमेज कान्फ्रेंसमे शरीक हुए। उस दिन अल्पसख्यक समितिकी बैठकमे प्रधान मन्त्री रैम्जे मैकडोनल्डने जो भाषण दिया, वह धमकियोंसे भरा हुआ था। गान्धीजी उसे सुनकर भिन्ना उठे, पर चुप रहे और स्थानपर लौटनेके बाद, जब वे पूरी तरह शान्त हो लिये, तो उन्होने एक पत्र लिखकर अपना विरोध प्रकट किया। बात यह है कि जवाब वाणीका हो या कलमका, वह जितना ठण्डा होगा, उतना ही प्रभावशाली होगा।

उन्ही दिनो सम्राट् पचम जार्जने गोलमेज कान्फ्रेंसके प्रतिनिधियोको अपने महलमे एक दावत दी और गान्धीजीको भी उसमे आनेका पत्र लिखा।

गान्धीजीने कई दिनतक इस पत्रका उत्तर नही दिया। बात यह है कि गान्धीजी इस तरहकी शानदार दावतोमे कभी शरीक नही होते थे, इसलिए सत्य और न्यायका पक्ष था कि वे साफ-साफ इन्कार करदे, पर सोचते-सोचते एक नैतिक पक्ष उनके मनमे आया कि मै इग्लैंडका मेहमान हूं और मेहमानको कोई भी ऐसा काम न करना चाहिए कि उसके व्यवहारसे मेजबानके प्रति अवज्ञा प्रकट हो और बस उन्होने अपने नियमको ढीला करके निमन्त्रण पत्रके उत्तरमे स्वीकृति-पत्र लिख दिया।

यदि गान्धीजी पत्रके आते ही जल्दीसे उसका जवाब दे देते तो?

मार्च १९४४ की बात है। गान्धीजी आगा खां महलमे नजरबन्द थे और 'बा'की मृत्यु हो चुकी थी।

'बा की मृत्युपर भारत सरकारके गृहमन्त्रीने जो वक्तव्य केन्द्रीय असेम्बलीमे दिया, उससे गान्धीजी सहमत नही थे, वे उसका प्रतिवाद करना आवश्यक समझते थे।

उन्होने प्यारेलाल भाईसे पत्र लिखनेको कहा, पर उनका लिखा पत्र गान्धीजीको पसन्द नही आया। गान्धीजीने स्वय पत्र लिखा। फिर उसमे

सुधार किया। तब साथियोंने उसे देखा। बहुतसे और बहुत बार सुधारके बाद गान्धीजीने उसे फिर लिखाया।

इस तरह ५ बार सुधारके बाद डा० गिल्डरने उसे देखा और उसमें छठी बार सुधार किया और उसके अनुसार सुशीला नायरने फिरसे एक पत्र तैयार किया। तबतक गान्धीजी भी अपने पत्रमें काफी काट-छाँट कर चुके थे। इस तरह दो पत्र हो गये। इन दोनोंको मिलाकर एक तीसरा पत्र तैयार हुआ। गान्धीजीको यह अच्छा लगा, पर स्नान-गृहमे नहाते-नहाते उसे उन्होंने फिर सुना और कुछ सुधार किये। भोजन करते समय गान्धीजीने उस पत्रमे कुछ और सुधार कराये और तब वह टाइप होकर डाकमे गया।

अप्रैल १९४४में वायसराय वेवलका एक पत्र उसी नज़रबन्दीमे गान्धीजीको मिला। पत्र पढकर गान्धीजीका रोम-रोम गरम हो गया और उसी गरमीमे उन्होंने पत्रका उत्तर लिखा।

साथियोको यह पत्र 'तीखा' लगा, पर गान्धीजी पूरी गरमीमें थे। बोले—"वह तीखा है ही नही!"

कहा गया कि—"इस तरहका पत्र न लिखे, तो क्या हर्ज है?"

गान्धीजी गरमीमे भरे थे। बोले—"लिखना तो चाहिए। न लिखूं तो मै नीचे उतरता हूं और लिखूं तो ऐसाही लिख सकता हूं।"

रातमे डा० गिल्डरने कहा—"यह पत्र लिखनेका हेतु क्या है? क्या आगेके लिए पत्र-व्यवहार बन्द करनेका?"

प्रश्नमे बरसात थी, पर गान्धीजीकी गरमी उससे न बुझी। बोले—"जैसा उसका पत्र है, वैसा ही जवाब होना चाहिए, ताकि वह समझ ले कि मै उसका अर्थ समझ गया हूं।"

प्यारेलाल भाईने एक नया पत्र लिखा। गान्धीजीने उसे पढा और तब नया पत्र लिखाया।

इसमें साथियोंने अपने सुधार सुझाये और तब गान्धीजीने एक और पत्र लिखाया—लिखाते-लिखाते भी इसमें सुधार वे कराते रहे।

रातमें डाक्टर गिल्डरको यह पत्र दिया गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने सुझाव दिये। गान्धीजीने लिखा था कि हाकिम और रैयत एक होकर काम नही कर सकते और गिल्डर इससे भी सहमत नही थे। गान्धीजी अपनी बातपर जमे रहे।

शामको घूमते समय उनका मत बदला कि साँप मालिक और नौकर पर एक साथ हमला करे, तो दोनों उसे मारनेमें सहयोगी हो जायँगे। तब वे बोले—"अगर मेरा यह पत्र ज्योंका त्यों चला जाता, तो मेरी हँसी होती।"

और तब दूसरे दिन उन्होंने एक नया पत्र लिखवाया और वही वेवल-को भेजा गया। जब गान्धीजीको एक खतके लिए इतनी सावधानी और श्रमकी आवश्यकता थी, तो मुझे-आपको कितनी जरूरत है?

आदमी गरम खत कब लिखता है? जब वह किसी बातसे गुस्सेमें आ जाय। गुस्सा दिमागपर सवार है, तो कलममें ठण्डक कहाँसे आयगी?

क्या आप चाहते हैं कि किसीको गरम खत न लिखें? हाँ, तो उस समय कोई खत न लिखिये, जब आपको गुस्सा चढा है और लिखनेका आवेग इतना प्रबल हो कि बिना लिखे रहा ही न जाय, तो अवश्य लिखिये, पर उसे लिखकर रख लीजिये, तुरन्त डाकमें न डालिये। दूसरे-तीसरे दिन जब आप उसे शान्तिसे पढेंगे, तो आपको वह मक्खियों भरा दूध दिखाई देगा और आप उसे फाडकर दूसरा खत लिखेंगे, जिसमें ताना-तनाजा एक नहीं, सिर्फ कामकी बात होगी।

क्या आपके पास किसीका गरम खत आया है और आप गुस्सेसे भर

सुधार किया। तब साथियोंने उसे देखा। बहुतसे और बहुत बार सुधारके बाद गान्धीजीने उसे फिर लिखाया।

इस तरह ५ बार सुधारके बाद डा० गिल्डरने उसे देखा और उसमें छठी बार सुधार किया और उसके अनुसार सुशीला नायरने फिरसे एक पत्र तैयार किया। तबतक गान्धीजी भी अपने पत्रमें काफी काट-छाँट कर चुके थे। इस तरह दो पत्र हो गये। इन दोनोको मिलाकर एक तीसरा पत्र तैयार हुआ। गान्धीजीको यह अच्छा लगा, पर स्नान-गृहमें नहाते-नहाते उसे उन्होंने फिर सुना और कुछ सुधार किये। भोजन करते समय गान्धीजीने उस पत्रमें कुछ और सुधार कराये और तब वह टाइप होकर डाकमे गया।

अप्रैल १९४४में वायसराय वेवलका एक पत्र उसी नज़रबन्दीमे गान्धीजीको मिला। पत्र पढकर गान्धीजीका रोम-रोम गरम हो गया और उसी गरमीमे उन्होंने पत्रका उत्तर लिखा।

साथियोको यह पत्र 'तीखा' लगा, पर गान्धीजी पूरी गरमीमे थे। बोले—"वह तीखा है ही नही!"

कहा गया कि—"इस तरहका पत्र न लिखें, तो क्या हर्ज है?"

गान्धीजी गरमीसे भरे थे। बोले—"लिखना तो चाहिए। न लिखूं तो मैं नीचे उतरता हूँ और लिखूं तो ऐसाही लिख सकता हूँ।"

रातमे डा० गिल्डरने कहा—"यह पत्र लिखनेका हेतु क्या है? क्या आगेके लिए पत्र-व्यवहार बन्द करनेका?"

प्रश्नमें बरसात थी, पर गान्धीजीकी गरमी उससे न बुझी। बोले—"जैसा उसका पत्र है, वैसा ही जवाब होना चाहिए, ताकि वह समझ ले कि मैं उसका अर्थ समझ गया हूँ।"

प्यारेलाल भाईने एक नया पत्र लिखा। गान्धीजीने उसे पढ़ा और तब नया पत्र लिखाया।

इसमें साथियोंने अपने सुधार सुझाये और तब गान्धीजीने एक और पत्र लिखाया—लिखाते-लिखाते भी इसमें सुधार वे कराते रहे।

रातमें डाक्टर गिल्डरको यह पत्र दिया गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने सुझाव दिये। गान्धीजीने लिखा था कि हाकिम और रैयत एक होकर काम नहीं कर सकते और गिल्डर इससे भी सहमत नहीं थे। गान्धीजी अपनी बातपर जमे रहे।

शामको घूमते समय उनका मत बदला कि साँप मालिक और नौकर पर एक साथ हमला करे, तो दोनों उसे मारनेमें सहयोगी हो जायँगे। तब वे बोले—"अगर मेरा यह पत्र ज्योंका त्यों चला जाता, तो मेरी हँसी होती।"

और तब दूसरे दिन उन्होंने एक नया पत्र लिखवाया और वही वेवल-को भेजा गया। जब गान्धीजीको एक ख़तके लिए इतनी सावधानी और श्रमकी आवश्यकता थी, तो मुझे-आपको कितनी जरूरत है?

आदमी गरम ख़त कब लिखता है? जब वह किसी बातसे गुस्सेमें आ जाय। गुस्सा दिमागपर सवार है, तो कलममें ठण्डक कहाँसे आयगी?

क्या आप चाहते हैं कि किसीको गरम ख़त न लिखें? हाँ, तो उस समय कोई ख़त न लिखिये, जब आपको गुस्सा चढ़ा है और लिखनेका आवेग इतना प्रबल हो कि बिना लिखे रहा ही न जाय, तो अवश्य लिखिये, पर उसे लिखकर रख लीजिये, तुरन्त डाकमें न डालिये। दूसरे-तीसरे दिन जब आप उसे शान्तिसे पढ़ेंगे, तो आपको वह मक्खियों भरा दूध दिखाई देगा और आप उसे फाड़कर दूसरा ख़त लिखेंगे, जिसमें ताना-तनाज़ा एक नहीं, सिर्फ कामकी बात होगी।

क्या आपके पास किसीका गरम ख़त आया है और आप गुस्सेसे भर

सुधार किया। तब साथियोने उसे देखा। बहुतसे और बहुत बार सुधारके बाद गान्धीजीने उसे फिर लिखाया।

इस तरह ५ बार सुधारके बाद डा० गिल्डरने उसे देखा और उसमे छठी बार सुधार किया और उसके अनुसार सुशीला नायरने फिरसे एक पत्र तैयार किया। तबतक गान्धीजी भी अपने पत्रमे काफी काट-छाँट कर चुके थे। इस तरह दो पत्र हो गये। इन दोनोको मिलाकर एक तीसरा पत्र तैयार हुआ। गान्धीजीको यह अच्छा लगा, पर स्नान-गृहमे नहाते-नहाते उसे उन्होने फिर सुना और कुछ सुधार किये। भोजन करते समय गान्धीजीने उस पत्रमे कुछ और सुधार कराये और तब वह टाइप होकर डाकमे गया।

अप्रैल १९४४मे वायसराय वेवलका एक पत्र उसी नजरबन्दीमे गान्धीजीको मिला। पत्र पढकर गान्धीजीका रोम-रोम गरम हो गया और उसी गरमीमे उन्होने पत्रका उत्तर लिखा।

साथियोको यह पत्र 'तीखा' लगा, पर गान्धीजी पूरी गरमीसे थे। बोले—"यह तीखा है ही नही।"

कहा गया कि—"इस तरहका पत्र न लिखे, तो क्या हर्ज है?"

गान्धीजी गरमीसे भरे थे। बोले—"लिखना तो चाहिए। न लिखूं तो मै नीचे उतरता हूं और लिखूं तो ऐसाही लिख सकता हूं।"

रातमे डा० गिल्डरने कहा—"यह पत्र लिखनेका हेतु क्या है? क्या आगेके लिए पत्र-व्यवहार बन्द करनेका?"

प्रश्नमे बरसात थी, पर गान्धीजीकी गरमी उससे न बुझी। बोले—"जैसा उसका पत्र है, वैसा ही जवाब होना चाहिए, ताकि वह समझ ले कि मै उसका अर्थ समझ गया हूं।"

प्यारेलाल भाईने एक नया पत्र लिखा। गान्धीजीने उसे पढ़ा और तब नया पत्र लिखाया।

इसमें साथियोंने अपने सुधार सुझाये और तब गान्धीजीने एक और पत्र लिखाया—लिखाते-लिखाते भी इसमें सुधार वे कराते रहे।

रातमें डाक्टर गिल्डरको यह पत्र दिया गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने सुझाव दिये। गान्धीजीने लिखा था कि हाकिम और रैयत एक होकर काम नहीं कर सकते और गिल्डर इससे भी सहमत नहीं थे। गान्धीजी अपनी बातपर जमे रहे।

शामको घूमते समय उनका मत बदला कि सांप मालिक और नौकर पर एक साथ हमला करे, तो दोनों उसे मारनेमें सहयोगी हो जायेंगे ! तब वे बोले—"अगर मेरा यह पत्र ज्योंका त्यों चला जाता, तो मेरी हँसी होती।"

और तब दूसरे दिन उन्होंने एक नया पत्र लिखवाया और वही वेवल-को भेजा गया। जब गान्धीजीको एक खतके लिए इतनी सावधानी और श्रमकी आवश्यकता थी, तो मुझे-आपको कितनी जरूरत है ?

आदमी गरम खत कब लिखता है ? जब वह किसी बातसे गुस्सेमें आ जाय। गुस्सा दिमागपर सवार है, तो कलममें ठण्डक कहाँसे आयगी ?

क्या आप चाहते हैं कि किसीको गरम खत न लिखें ? हाँ, तो उस समय कोई खत न लिखिये, जब आपको गुस्सा चढ़ा है और लिखनेका आवेग इतना प्रबल हो कि बिना लिखे रहा ही न जाय, तो अवश्य लिखिये, पर उसे लिखकर रख लीजिये, तुरन्त डाकमें न डालिये। दूसरे-तीसरे दिन जब आप उसे शान्तिसे पढ़ेंगे, तो आपको वह मक्खियों भरा दूध दिखाई देगा और आप उसे फाड़कर दूसरा खत लिखेंगे, जिसमें ताना-तनाजा एक नहीं, सिर्फ कामकी बात होगी।

क्या आपके पास किसीका गरम खत आया है और आप गुस्सेसे भर

उठे है ? हाँ, तो आप भी ठहरिये और अभी खत न लिखिये। ठहरना सम्भव न हो, तो फिर लिख लीजिये खत और फोड लीजिये उसमें दिलके छाले, पर उसे डाकमें न डालिये।

सौ बातोकी एक बात यह है कि गुस्सा आदमीको सोचने लायक नही छोडता।. अब आप अगर गुस्सेमे खत लिखते है, तो वह इस लायक कहाँ है कि उसपर कोई विचार करे ? इसी तरह जब आप किसीका गरम खत पढकर गरमा गये और तभी लिख बैठे उसका जवाब तो वह इस लायक कहाँ होगा कि उसपर कोई विचार करे ?

हमेशा ठण्डा खत लिखिये, गरम खतका ठण्डा जवाब लिखिये और साफ बात यह है कि ठण्डे होकर खत लिखिये।

# जब उन्होंने तालियाँ बजा दीं !

वसन्तोत्सवके मन्त्रीजी आये थे, कह गये है कि इस बारके प्रमुख वक्ताओमे उन्होने मेरा भी नाम सर्व सम्मतिसे रक्खा हैं। शहर भरमें लगानेके लिए उन्होने जो दो हजार पोस्टर छपाये है, उनमें भी मेरा नाम छापा गया है। अपनी फाइलमे लगा वह पोस्टर उन्होंने मुझे दिखाया भी था। इच्छा तो हुई थी कि यह पोस्टर उनसे माँग लूं, पर यह मुझे जरा हल्कापन लगा। फिर यह भी सोचा कि काहेके लिए अपनेको उनकी निगाहोमें गिराऊँ, आखिर ये दो हजार पोस्टर लगेगे तो शहरकी दीवारोपर ही—वहींसे भी चुपचाप एक उतार लूंगा। फिर यही क्या जरूरी है कि मै खुद उतारता फिरूँ गलियोमे पोस्टर। किसी लडकेको दो पैसे दिये और पोस्टर घर आ गया।

तो खैर, मैंने यह अच्छा ही किया कि पोस्टर उनसे नही माँगा और मनकी बात मनमे रख ली। फिर भी मन्त्रीजीकी आँख बचाकर मैंने वह पोस्टर पढ जरूर लिया था। वक्ताओमें ७ नाम थे और उनमे मेरा नाम तीसरे नम्बरपर था। प्रिंसिपल त्रिवेदी और बाबू राजकुमार एम. एल. ए का नाम ही मेरे नामसे ऊपर था। इसका मतलब साफ है कि मन्त्रीजी और नगरके दूसरे लोग मेरी योग्यतासे पूरी तरह परिचित है।

फिर प्रिंसिपल त्रिवेदी और राजकुमार एम. एल. ए. का नाम भी उन्होंने मेरे नामसे ऊपर सम्भवत उनके पदोंके कारण ही छापा होगा; वरना यह भी सम्भव है कि मेरा ही नाम सबसे ऊपर रहता। वैसे तीसरा नम्बर भी क्या बुरा है। राह चलते आदमीकी निगाह जब पोस्टरपर पडती है, तो ऊपरके तीन नाम ही आंखोमे आते है।

खैर, यह तो निश्चित है कि इस पोस्टरको सारा शहर पढेगा और इस तरह इस पोस्टरसे मेरा नाम सारे शहरमे एक बार तो गूँज ही उठेगा।

यह भी एक बात ही है कि मेरा नाम बाबू राजकुमार एम एल ए. के बाद छपा है। कहते हैं कभी-कभी किस्मत इतनी दूरसे इशारा करती है कि उसे समझना हरेकके बसका नही होता। कौन जाने यह भी मेरी किस्मतका एक इशारा ही न हो!

राजकुमार एम. एल. ए. के बाद मेरा नाम छपा है, तो क्या यह सम्भव नही कि उनके बाद मुझे ही एम. एल. ए. होना हो? वे दो बार एम एल. ए. रह चुके हैं, अब काफी बूढे हो गये है और बिना चाहे वसन्तोत्सव-में भाषण देनेके लिए मेरा रक्खा जाना इस बातका सबूत है कि लोग मुझे चाहते हैं, पसन्द करते है।

फिर असेम्बलीकी मेम्बरी कोई राजकुमारके बापका बैंक-बैलेंस नही कि वे लायक हो या निखट्टू वह मिलेगा उन्हे ही। अजीब बात है कि आदमी मौतके रथ तक भी पदोकी अर्थीपर बैठा-बैठा ही जाना चाहे। हाँ, चाहा करे आदमी स्वर्गको मुट्ठीमें ले लेना, पर चाहनेसे होता क्या है। यह जनतन्त्रका युग है। अब पद-प्रतिष्ठा खानदानोकी बपौती नहीं हो सकती। जी, वे दिन हवा हुए जब खलील खाँ फाख्ता उडाया करते थे। अब कुर-सियो पर आदमी आसमानसे नही उतरते, अब तो जनता जिसे चाहेगी धरतीसे उठाकर उनपर बैठा देगी।

और फिर वही भाग्यके इशारेकी बात, बाबू राजकुमारके बाद ही मेरा नम्बर है। उनके भाषणमे होता ही क्या है? वही ढाकके तीन पात, न जोशका उफान, न भावोकी कोई कडी, न सरसता ही। उनके बोदे व्याख्यानके बाद मैं ऐसा भव्य भाषण दूंगा कि वे और सभा, दोनो ही गजकर्ण होकर सुनते रह जायेंगे!

सचाई यह है कि यह निमन्त्रण वसन्तोत्सवका नहीं, मेरे भाग्योत्सवका ही है।

फिर सभामें कोई आदमी सिर्फ भाषणसे ही नहीं जमता, जमनेकी भी एक कला है और कला क्या है, तरकीब है और तरकीब भी क्या है एक चाल है—बस चली की फिट और फिर देखिये तालियोंकी वो गड़गड़ाहटें, वो गड़गड़ाहटें कि बेचारे आसमानके कान काँप उठें।

और चाल भी क्या कोई शतरंज की चाल है कि घुटनेपर गाल रक्खे नवाब मण्तूं सोचा करें सौ और हाथ न आये एक। चट रोटी पट दाल; जी हाँ चट रोटी पट दाल—इधर तीर छूटा उधर शेर घायल !

लो सच बता दूँ, यह चाल कुछ मेरी अक्लका कारण नहीं है, यह सतीश-की सूझका तोहफा है। वह कविता-ववित्ता तो यों ही कुछ लिखता था, पर हाँ, कवि-सम्मेलनमें जमती उसीकी थी। अरे भाई, पब्लिक यानी जनताका दिमाग भेड़ियाधसान है—जिधर चले कि चले और न चले तो बस ठप्प। तो सतीश अपने साथ ८-१० चेले-चाँटे ले जाता और ज्यों ही वह कविता आरम्भ करता कि वे पुनः-पुनः साधु-साधु और वाह-अति सुन्दरके साथ तालियोंसे वातावरणको गुँजा देते और ऐसा समा बँधता, ऐसा समा बँधता कि क्या बताऊँ आपको कि दूसरोंके मोती रुले फिरते और उसके गिट्टे चमक उठते।

तभी तो कह रहा हूँ मैं कि सभामें कोई आदमी सिर्फ भाषणसे ही नहीं जमता, जमनेकी भी एक कला है और कला क्या है एक तरकीब है और तरकीब भी क्या है एक चाल है बस चली कि फिट और फिर देखिये तालियोंकी वो गड़गड़ाहटें, वो गड़गड़ाहटें कि बेचारे आसमानके कान भी काँप उठे और चाल भी क्या कोई शतरंजकी चाल है कि घुटनेपर गाल रखे नवाब मण्तूं सोचा करें सौ और हाथ न आये एक। चट रोटी पट

दाल, जी हां चट रोटी पट दाल—इधर तीर छूटा उधर शेर घायल।

तो भाषणकी सफलता निश्चित है और यह भी कि राजकुमार बाबूको सांप सूंघ जायगा, यानी मेरा वसन्त उनका बस अन्त ही है।

वसन्तोत्सव समीप आ रहा है और मै भी पूरे जोरोसे अपने भाषणकी तैयारी कर रहा हूं। भाषण दे देना आसान है, पर मै ऐसा भाषण देना चाहता हूं कि प्रतिष्ठित पत्रोमे उसके मुख्य अश तो छपे ही, पर उसपर ज्यादा नही, तो २-४ में सम्पादकीय टिप्पणी भी जडी जाये।

यह कोई कठिन काम नही है। मैने अत्यन्त प्रतिष्ठित पुरुषो द्वारा पढे गये कोई २०-२५ भाषण इकट्ठे कर लिये है और उनके चुने हुए अश उनमेसे काट लिये है। यह काफी कीमती मसाला है और हमारे सम्पादक लोग इसकी उपेक्षा नही कर सकते।

और यदि इन भाषणोको वे सम्पादक पहले पढ चुके हो और मेरे भाषणको चोरीका गुलदस्ता लिख दे, तो बस डूब गई नाव, यह बहुत बडा खतरा है, पर खतरेको दूरसे ताड लेना और बचाव बाँध रखना ही खिलाडीपन है।

मै भी अनाडी नही हूं। वैसे तो मै कह सकता हूं कि ये भाषण जिन लोगोने पढे है, कुछ उनके भी लिखे नही है—भाषणोमें तो विचारोका आदान-प्रदान देन-लेन चलता ही है, पर मै कच्ची गोलियाँ भला खेलूं ही क्यो?

मैने सब विचारोकी भाषा बदल दी है—भाव अनूठे चाहिएँ, भाषा कोई होय। अब भाषा मेरी है और भाव भगवान्के। फिर भाषा और भाव दोनोसे बढकर है व्याख्यानकी भाव-शृखला। उसमे मैने रातदिन मेहनत की है।

इस तरह व्याख्यानका मसाला तो तैयार है, पर प्रश्न यह है कि मै इसे आरम्भ कहासे करूँ? मैने देखा कि हमारे प्रदेशके प्रमुख वक्ता भाई

यशपाल सिंह अपना भाषण किसी शेरसे शुरू करते हैं और शेरके पढ़ते ही हजारों लोगोंके दिल उनकी मुट्ठीमें आ जाते हैं।

मैं चाहता हूं कि कोई ऐसा शेर हो, जो लोगोंको तड़पा दे, बेचैन कर दे, मुग्ध कर दे, लोट-पोट करदे। इस कामके लिए मैंने कोई ५०-६० शेर इकट्ठे किये हैं, पर तै नहीं कर पा रहा हूं कि किसे जमा दूं।

बहुत सोच-विचारके बाद यह शेर मेरे दिलमें समाया है कि यह ऐसा जमेगा, ऐसा जमेगा कि न पूछिये—शेर क्या है, दिलोंका सीमेन्ट है—

असर कहते हैं जिसको,
वह खुदाकी देन है लेकिन—
इजाजत हो तो हम भी,
अर्ज कर लें दास्तां दिलकी।
अदब और दबाव, दोनोंका वाह क्या मिलान है।
इजाजत हो तो हम भी,
अर्ज कर लें दास्तां दिलकी।

शेर तो वाकई जोरदार है, पर एक बात है कि कुछ लोग शेरसे भाषणको शुरू करना जरा हल्कापन मानते हैं। तो फिर क्या करूं? हां, ठीक है, स्वामी रामानन्दजीके तरीकेसे काम लूं कि व्याख्यानको किसी कहानीसे शुरू करूं।

दृष्टांत-सागरमें अच्छी कहानियां हैं और दृष्टांत-समुच्चयमें भी, पर ये जरा पुराने-से लगते हैं और कुछ गम्भीर भी हैं। मैं कोई ऐसी कहानी चाहता हूं कि वह ऐसी चटपटी हो कि सुनते ही जनता उसमें उलझ जाय। तो फिर ह्यूएनत्सांगकी कहानी सबसे अच्छी रहेगी।

दक्षिण भारतसे एक आदमी उत्तर भारतमें आया। वह अपने पेटपर तांबेके पत्तर बांधे रहता था और सिरपर जलती हुई मशाल। उससे

लोगोने पूछा कि तुम ऐसा क्यो करते हो? उसने उत्तर दिया कि मेरे पेटमें इतनी ज्यादा अक्ल है कि मै पेटपर तांबेके पत्थर न बांधूं, तो मेरा पेट ही फट जाये और सिरपर मशाल इसलिए बांधता हूं कि मेरे चारो तरफ जो लोग है, वे अज्ञानके अन्धेरेमे भटक रहे है। मुझे उनपर दया आती है और मै उन्हे यह रोशनी दिखाता हूं।

ठीक है बस इससे ही आरम्भ करूँगा अपना व्याख्यान। बात यह है कि इससे दो लाभ एक साथ होगे। बाबू राजकुमारपर तो यह चोट हो जायगी कि कुछ तुममे ही अक्ल नही है, मुझमे भी है और जनताके लिए इसी बातको मोड दूंगा यो कि मुझे उस आदमीकी तरह अक्लका बदहाजमा नही है, मै तो आपका नम्र सेवक हूं।

खैर, भाषण मैने ऐसा बांध दिया है कि सुनते-सुनते लोग मुग्ध हो जाएँ और अधिक नही, तो २-४ सप्ताह तो नगरमें उसीकी चर्चा रहे, पर यह क्या बात है कि कल बसन्तोत्सव है और आज मेरा हृदय धक-धक कर रहा है। कलके उत्सवकी बात याद आते ही शरीरमे दौडता खून जम-सा जाता है।

किसी सभामे भाषण देनेका यह मेरे लिए पहला दिन है, पर जैसे बातचीत, वैसा भाषण। बातचीत रुक-रुककर की जाती है और भाषण बिना रुके। फिर जब भाषण तैयार है और उसे मैने करीब-करीब रट डाला है, तो इसमे चिन्ताकी क्या बात है—धडाधड बोलता चला जाऊँगा।

हां, बात तो ठीक है, बोलता चला जाऊँगा। अजी मैने यहांतक निशान लगा लिये है कि कहां जोशके साथ बोलना है और कहां धीमेसे, कहां अपनेको गम्भीर रखना है और कहां हँसना। असल बात यह है कि भाषणमें उतार-चढाव बहुत जरूरी है।

हां, भाषणमें उतार-चढाव बहुत जरूरी है, पर मेरे दिलमे यह उतार-

चढाव क्यो हो रहा है। ऐसी घबराहट तो मुझे पहले कभी नही हुई। सभी मानते है कि मै डरपोक नही हूँ।

फिर यह भी खतरा नही है कि भाषण बिगड जाय, क्योंकि पहले तो रट मारा है, फिर कई बार बागमे जाकर उसे दोहरा लिया है और आज तो मैने उसके नोट्स भी ले लिये हैं। ऐसी तरकीबसे उस पर्चेको मेजपर रख लूंगा कि मुझे एकके बाद एक पैडी दिखाई देती रहे और किसीको इस सर्च लाइटका पता भी न रहे।

मै समझता हूँ कि अब घबराहटकी कोई बात नही है।

हां, घबराहटकी क्या बात होती इसमे, पर थोडी-थोडी देरमे कलेजा जाने क्यो बाहरको आने लगता है। सोचता हूं मत्रीजीको एक पत्र भेज दूं कि तार आगया है, एक सम्बन्धी बीमार है, बाहर जा रहा हूँ, बस झगडा टटा खत्म। भाषणका क्या, ये तो आये दिन जल्से-उत्सव खडे ही रहते है।

हाँ, यही ठीक है। कौन मुसीबतमे जान फांसे। कही ऐसा न हो कि आये थे चौबेजी छबे बनने, पर रह गये दुबे ही, यानी आये थे बेचारे नमाज बखशवाने, रोजे गले पडे।

बाहर जानेका फैसला कर लिया था, पर रात माधोकी माँ मिल गई। बुढिया टनटूमनमे मास्टर है। बोली—अरे, जबतक मै हूं, तुझे क्या फिकर, जेठे पूतकी अगछी-टोपी दे दूंगी। जाते समय उसे जेबमें डाल लियो, बस फतह ही फतह है। चारो तरफ दुश्मन ही दुश्मन हो, तब भी सिक्का तेरा ही बैठेगा। मेरी बात झूठ निकले, तो चोरका हाल सो मेरा हाल !

मन्तर-तन्तर झाडा-फूंको और टनटूमनमें अब लोगोका विश्वास नही है, पर हमारे बडे-बुजुर्ग क्या मूर्ख ही थे, जो इनमे विश्वास करते थे !

आखिर कोई तो बात है ही इनमे। कहते है पण्डित जयन्तीलाल

शिवावली दिया करते थे, तो गीदडी आकर स्वय वलिको खा जाती थी। गीदडी न आये, तो वे लाखका लोभ देनेपर भी अनुष्ठान हाथमे न लेते थे और साफ कह देते थे कि तेरा काम सिद्ध नही होगा।

आज ही वसन्तोत्सव है। तीसरे दिन मैं हजामत बनाता हूँ और आज उसका दिन नही था, फिर भी मैंने हजामत बनाई। बात यह है कि हजामत भी आदमीके व्यक्तित्वको चमकाती है और व्यक्तित्वकी चमक भाषणके जमनेमे मदद देती है।

मैं कभी शेरवानी और पाजामा पहनता हूँ, कभी बुशशर्ट-पतलून और कभी कुरता-धोती। मैंने सबको अलग-अलग पहनकर शीशा देखा और अन्तमें शेरवानी-अचकनको ही पास किया। इस वेशमें एक वडप्पन है, सजीदगी है, शालीनता है।

हनुमानजीके दर्शन करने गया और उनके चरणका सिन्दूर छातीपर लगाया। इससे काफी वल मिला और घर आकर सवा रुपया ताकमे रख दिया कि आज मेरा भाषण जम गया, तो रातको ही हनुमानजीका प्रसाद बाँटूंगा।

अपने कमरेमे लेटकर मैंने भाषण दोहराया, ठीक था, घबराहट भी आज कल जैसी नही थी और सफलता अब मेरे सामने थी। समयपर कपडे पहन उत्सवमे चला, तो घरसे वाहर पैर रखते ही कही दूर शख बजा। मेरा मन विश्वाससे भर गया। यह शुभ शकुन था—मुझे लगा कि यह राजकुमार बाबूपर मेरी विजयका शखनाद है। ताँगेमे बैठते-बैठते मैंने मनमे कहा—हे सत्यनारायण स्वामी, आपकी कृपासे आज मुझे सफलता मिल जाय, तो मैं धूमधामसे आपकी कथा कहलवाऊँगा।

मै ठीक समय जल्सेमें पहुँच गया। मन्त्रीजीने मेरा स्वागत किया। सच तो यह है कि सब मेरी ही ओर देख रहे थे और ठीक भी है कि उत्सवका

प्राण तो वक्ता ही होते हैं। फिर वक्ताओंमे दो तो पुराने-घिसे हुए थे और चार सीखतट—आजका मुख्य वक्ता मैं ही था।

मैं कुरसीपर बैठ गया, पर मुझे फिर घबराहट उठी और मनमे आया कि उठ चलूँ, पर मैंने तभी जेबमें हाथ डालकर मावोकी माँके उस अक्षय कवचको छू लिया। इससे मुझे कुछ ताकत मिली और तभी मैंने मन ही मन कहा—हे हनुमानजी महाराज, मुझे सफलता दो। मैं आज ही आपको सवाकी जगह अढाई रुपयेका प्रसाद चढाऊँगा।

प्रिंसिपल त्रिवेदी सभापति चुने गये, इसलिए बाबू राजकुमार एम० एल० ए० ही पहले वक्ता रहे। वे बोल रहे थे, पर मैं उनका भाषण सुन न रहा था। हाँ जी, भाषण मेरे कानोंमे पड रहा था, पर कलेजेमें उतर न रहा था। मैं शायद अपना भाषण सोच रहा था और शायद कुछ भी न सोच रहा था।

उनका भाषण ढीला रहा, यह मैं जरूर समझ पाया। उसमें एक भी बात नई न थी। सच यह है कि वे उन लोगोंमे हैं, जो मर जाते हैं और फिर भी साँस लेना बन्द नहीं करते।

अब मन्त्रीजी मेरा परिचय दे रहे थे। मैं अपनी कुरसीसे उठा, तो मुझे लगा कि मेरे पैर सो गये हैं। मैंने अपनेको सम्भाला और भाषणके नोट्सकी पर्ची बायें हाथमें ले ली। मेजके पास पहुँचते ही सभापतिजीने कहा—"आइये, कितनी देर बोलिएगा ?" मैंने कहा—आधे घण्टेमें कुछ ज्यादा ही समझिये !" पर मुझे लगा कि मेरी आवाज कुछ बैठी हुई है। पिण्डलियाँ तो काँप ही रही थी।

मैंने सभाकी ओर देखा—कोई दो हजार आँखे मुझे ही देख रही थी। सहसा मेरी आँखे बाबू राजकुमारकी आँखोंसे टकराई—बस एक बडा घण्टा-सा मेरे कलेजेमें घनघनालगा और यह भी कि नक्त नीचेको जा रहा है।

श्रीमान् सभापतिजी और भाइयो, मैंने कहा और तब मशालवालेकी कहानी आरम्भ की, पर जाने कैसे मेरे मुंहसे निकल पडा—मेरे सिरपर जलती मशाल बन्धी है।

बस जल्सेके लोग हँस पडे और लडकोने तालियाँ बजा दी। मेरा रोम-रोम इस तरह खेल गया कि जैसे मुझपर ये कई सौ हण्टर एक साथ पडे हो। मेरी आँखे बन्द हो गई या उनमें अन्धेरा छा गया और जब वे खुलीं मै पिछले कमरेमे लेटा था।

सब कुछ मुझे याद हो आया। जल्सा चल रहा था, मै चुपकेसे अपने घर आगया क्योकि अब वहाँ बैठना तारकूल लगाकर शीशेमे मुंह देखना था। जीना अब मुझे बोझ था। बोझ उठाया जा सकता है, पर जिया तो अब नही जा सकता था। हाँ मुझे मर जाना है, और क्या मरना ही बाकी है। इस सारी घटनावलीके बाद श्यामनन्द बाबूने बताया कि मेरा सिर फटा जा रहा था। मुझे याद आई सारीडनकी गोली और, और शेरीडन—इगलैण्डका राजनीतिज्ञ। वह जब पहली बार पार्लमेण्टमें बोला, तो घबरा गया। पत्रकारोने उससे कहा—"कोई और काम कीजिये आप", पर जब वही वारेन हेस्टिंसके विरुद्ध पार्लमेण्टमें बोला, तो प्रसिद्ध वक्ता फाक्सने कहा—"ऐसा भाषण कामन्स सभामे आजतक कभी नही हुआ।"

मैंने सोचा-मै मर जाऊँ? मेरे साहसने उत्तर दिया कि ना, मै मरूँगा नही और अपने नये-नये प्रयत्नोंसे नई सफलता पाऊँगा और एक दिन शेरीडनकी तरह यशस्वी हूँगा।

# उस बेवक़ूफ़ने जब मुझे दाद दी !

मेरी जन्मभूमिके एक सज्जनने उस दिन मुझसे अपनी बेटीके विवाह-का निमन्त्रण लिखवाया। वर्षभरमें दस-बीस-पचास निमन्त्रण लिखता ही हूँ, उनका भी लिख दिया।

उस बेटीके श्वसुर समयकी बात साहित्यिक रुचिके थे और पत्रोंमें मेरे लेख पढ चुके थे। वे जब बेटेकी बारात लेकर आये, तो स्नेहपूर्वक मेरे घर पधारे।

मै उनके अनुरोधपर उनके पुत्रको आशीर्वाद देने गया और यों उनके साथ उनके घर जा पहुँचा, जिन्होंने मुझसे निमन्त्रण-पत्र लिखवाया था।

जब उन्होंने जाना कि उनके सबधी मेरे घर गये थे, तो मनमे माना कि उन्हें मेरी प्रशसा करनी चाहिए और अपने सम्बन्धीकी ओर देखकर बोले—"लाला जी, हमारे पण्डितजी बडे विद्वान् है, मुन्नीके विवाहकी चिट्ठी हमने इनसे ही लिखवाई थी। ये बहुत अच्छी चिट्ठी लिखते हैं।"

मैंने अनुभव किया कि सम्बन्धीजीको उनकी बात भली नही लगी और उनके जाते ही वे बोले—"बेवकूफ है।"

मैंने कहा—"आपके वे सम्बन्धी है, चाहे जो कहिये, पर मेरी लिखाई की तो दाद वे दे ही रहे थे।"

बोले—"बेवकूफकी दादसे भगवान् बचाये।"

बचपनमे पिताजीने एक सस्मरण सुनाया था। वह अनायास स्मृतिमे चमक उठा—एक डिप्टी थे व्यालेराय। अफसरोंके सब दोषोंसे दूर और गुणोंसे भरपूर। उनकी अदालतमे दो भाइयोंका मुकदमा आया, जिनमे चतुर छोटे भाईने, सरल बडे भाईका सब कुछ दबा लिया था और अपमान भी किया था।

कालेरायने दूधका दूध और पानीका पानी कर दिया, तो फैसला सुनकर बडा भाई भरी अदालतमे बोला—"अरे डिप्टी साहब, तेरा बाप भी सुसरा गधा ही था, जो तेरा नाम कालेराय रख दिया—तू तो पूरा धोलेराय है।"

पाँच-सात दिन बाद भाई ब्रह्मानन्द जी आ गये—शास्त्रीय सगीतके वर्चस्वी साधक। आचार्य जगदीशचन्द्रने कुछ मित्रोंसे चर्चा कर दी और दूसरे दिन एक प्रतिष्ठित बन्धुके यहाँ रातमे एक सगीत-गोष्ठीका आयोजन हो गया।

समयपर हम लोग वहाँ पहुँचे, तो देखा कि नगरके कुछ शिक्षित बन्धुओंके साथ दुलारा सुनार भी बैठा है। दुलारेका गला अच्छा है और अपने यार-दोस्तोंमें गायक माना जाता है।

सगीतका उसे ज्ञान नही, ताल-स्वरका अता पता वह नही जानता, कुछ रसीली गजले और गलेका लोच ही उसका आरकेस्ट्रा है, जिससे वह मित्रोका मनोरजन कर देता है।

सितारपर कलाकार ब्रह्मानन्दकी उगलियाँ इठलाई कि वागेश्वरीकी धुन झकारपर थिरक उठी। वरसो बीत गये, पर लगता है आज भी वह धुन कानोमे समाई है। ब्रह्मानन्दजीकी मुद्रा दर्शनीय थी, लगता था कि उनकी आत्मा सितारके तारोमें समाधिस्थ हो गई है।

तभी कानोमे एक सुई चुभ गई—"लो टुन-टुन तो सुन ली पण्डितजी, अब इनसे कुछ गाना-वाना सुनवाओ।" यह उस मनहूसकी आवाज थी, जिसके घरपर हम बैठे थे। मैंने कडवी आँखोंसे उन्हे देखा, तो वे दवे। तभी फूटे कलाकारके बोल और वस जड तारोकी धुनसे चैतन्य कण्ठका स्वर मिल, यो इठला उठा कि प्रकृति और पुरुपका युगल विहार कर रहा हो।

राग उठा, उभरा, इठलाया और अन्तरिक्षमे बिखरकर कलाकारके मानसमें समा गया। ब्रह्मानन्दके माथेपर सरदीकी उग्र ऋतुमे भी श्रम-मोती झलक आये, सितार उन्होने रख दिया।

एक-दो बीमार गलोंसे मरी-सी वाह-वाह निकली और शेष सब शान्त रहे, शान्त क्या, वे भी थक गये थे—अपने अज्ञानसे, अज्ञानकी प्रतिक्रियासे !

तभी एक आवाज आई—"अच्छा साहब, अब दुलारेकी भी एक चीज हो जाय !"

"जरूर जरूर" यह मिला भरा पूरा समर्थन !

दुलारा सकोचसे दोहरा हो गया—"अजी, भला हसके सामने काली चिडियाकी क्या बिसात, पण्डितजीसे ही एक और चीज सुनिये !"

वह खास सगीतज्ञ नही था, पर कनरसिया तो था ही, चीजको समझता था, पहचानता था !

तकाजेने जोर पकडा, दुलारेके सामने जगह हो गई और वह खँखार ही रहा था कि किसी स्वयम्भू निर्देशककी वाणी सुन पडी—'हाँ दुलारे, ऐसी हो कि कलेजा चीरती चली जाये !"

दुलारेके बोल खिले—

उसने कहा तू कौन है, मैंने कहा बंदा तेरा !
उसने कहा चाहता है क्या मैंने कहा सौदा तेरा !!

वाह-वाहसे कमरा गूंज गया और इस तरहके रिमार्क भी—क्या कहने ! बंदाने सौदा क्या मिलाया है !

ब्रह्मानन्दजीने एक राग और गाया, दुलारेकी एक गजल और हुई और गोष्ठी खतम।

चलते-चलते एक सज्जन मेरे कानमे बोले—"तुम्हारे सितारजीको हमारे दुलारेने पहले ही दावमे उखाड दिया पण्डितजी !"

मैने आँख फाडकर उधर देखा—यह बैल बी० ए०, एल-एल० बी० था।

हम इस तरह चुपचाप घर पहुँचे और सो गये कि तीनो ही कही पिटकर आये हों, पर प्रात उठे ही थे कि दुलारे आ पहुँचा। अगोछेमें लपेटे फल उसने सामने रक्खे और ब्रह्मानन्दजीके पैर छूकर बोला—"इन लोगोंके भागसे हमारे कानोमे भी कल आपके बोल पड गये। पण्डितजी, मै रात भर नही सोया, आपकी आवाज़ मेरे भीतर गूँजती रही।"

मैं ने उसे जरा गहराईमे उतारा—"लेकिन वहाँ रात गाना तो तुम्हारा ही जमा दुलारे भाई।"

दुलारेने आँखे बन्दकर दोनो हाथोंसे अपने कान पकडे, जीभ बाहर निकाल दाँतोमें दबाई और तब कहा—"राम राम, कहाँ गलीकी नाली, कहाँ मन्दिरका कलश; आप भी क्या बात कहते हैं।"

विद्वान् मूर्खोंके बाद, यह एक मूर्ख विद्वान्का सम्पर्क था।

दुलारे चला गया, तो मुझे लगा कि गन्दे कमरेमें झाड़ू देनेके बाद अभी-अभी मैं मुँह-हाथ धोकर उठा हूँ।

× × ×

तबकी बात है, जब दिल्लीमें लाल किलेके सामने लाजपतराय मार्केट नही था और वहाँ आम जल्से हुआ करते थे।

उस दिन रातमे उधरसे निकला, तो खुले आकाशके नीचे मशायरा हो रहा था। जरीका चोगा पहने कोई नवाब साहब सदर थे। हजारों आदमी बैठे थे और हजारो खडे, जैसे जल्सेकी जी-जागती चारदीवारी हो यह।

मै भी खडा हो गया और खडा होते ही मुझतक जो कुछ आया, वह किसी शायरकी तरन्नुमके लहरेसे तर आवाज़ न थी, केवडेके इत्रकी मदमस्त खुशबू से भरा हवाका हल्का झोका था।

मेरे ठीक सामने एक नौजवान, चिनी हुई दुपल्ली टोपी और चिकनके कुरतेमे उनके कपडे इत्रमे बसे थे या वे स्वय, मैं नही कह सकता, पर उनसे वहाँका वातावरण महक रहा था, इसमे सन्देह नही।

तभी उन्होने एक शेरपर बढकर दाद दी—"वाह, क्या शेर है; वल्लाह, गालिब मरकर दुबारा ज़िदा हो गया है।"

चौककर मैंने उनकी तरफ देखा और तब—"इस शेरकी बारीकी क्या है भाई जान ?"

बोले—"अरबी-फारसी अलफाज (शब्दो) से शेर इस कदर सकील (गरिष्ठ) हो गया है कि मानी गुम है।"

"तो फिर आपने दाद किस बातकी दी ?" मैंने पूछा तो तुनककर बोले—"अजब दहकानी (गवाँरु) सवाल है आपका, अरे मियाँ दाद देनेसे मशायरेका समा बँधता है!"

तबतक शायर साहब अपना दूसरा शेर पूरा कर रहे थे। कुछ सुना, कुछ बे सुना और पूरा-का-पूरा बे समझा, पर मैंने उभरकर लम्बे हाथो दाद दी।

वे मेरी तरफ विजय भरी आँखोमे देखकर बोले—"फरमाइये जनाब, दादसे समा बँधता है या नही ?"

मैंने कहा—"बेशक।" और उन्होने फौरन मेरी तरफ पूरी तरह मुडकर बडे तपाकसे हाथ मिलाया और मुझे अपनी बराबरीमे ले लिया।

मैंने सोचा—मशायरेका समा बँधे न बँधे, बातचीतका समा तो बँध ही गया !

× × ×

लोकजीवनमे एक कथा प्रचलित है कि वनकी यात्रामे एक ऋषिको एक अमृतफल मिला। इसे कोई वन्ध्या भी खा ले तो पुत्रवती हो। ऋषिने कृपालु हो, पासपडोसकी एक वन्ध्या जुलाहीको वह फल दे दिया।

हाथमें फल लेकर जुलाही बोली—"मेरे घरमें इस फलसे बेटा हो गया, तो तुम्हे गाढेकी एक चादर दूंगी ऋषिजी!"

× × ×

उस दिन हम लोग एक कालेजके कवि-सम्मेलनमें गये। कवि-सम्मेलनके बाद चाय-पानी हुआ। श्री रतनलाल 'चातक' ने सभापतित्व किया था। कालेजके प्रिंसिपल उनसे बोले—"चातक जी, आप कविताको पढते खूब है।"

चातकजी चूकनेवाले कहाँ? तडाकसे बोले—"जी हाँ, कवितामे तो कुछ होता नही, इसलिए गा-बजाकर ही आपको रिझा लेता हूँ!"

अट्टहासोसे कमरा ऐसा गूंजा कि प्रिंसिपल साहब झक हो गये!

× × ×

हर बातका एक मास्टर पीस होता है, बस अब इस शृंखलाका मास्टर पीस सुन लीजिये।

बगलौरके कांग्रेस-महासमिति-अधिवेशनमे प्रधान मत्री जवाहरलाल नेहरूको चारो खाने चित कर, पण्डित द्वारकाप्रसाद दिल्लीके तख्तका सपना देख रहे थे कि भाग्यका तख्ता उलट गया और वे मध्यप्रदेशकी अपनी मिनिस्टरी भी खो बैठे।

अतीतमे डा० खरे भी मध्यप्रदेशका मुख्यमन्त्रीपद, कुछ इसी तरह गलत चाहके चक्करमे खो चुके थे, इसलिए डाक्टरने मिश्रको तारसे दाद दी, जो कुछ इस प्रकार थी—मुझे प्रसन्नता है कि तुम मेरे चरण-चिह्नोपर चल रहे हो!

× × ×

व्यक्तिके असाधारण गुणोको छोडकर उसके साधारण गुणकी कभी दाद मत दीजिए।

उस बेवकूफने जब मुझे दाद दी !

साधारण बातपर असाधारण दाद मत दीजिये,
असाधारण बातपर साधारण दाद मत दीजिये,
अपनेको स्वयं कभी दाद मत दीजिये,
यही यह भी कि हमेशा नपी-तुली दाद दीजिये,
सही स्थान पर और सही रूपमें दाद दीजिये,

और याद रखिये कि आपकी दाद एक तराजू है, जिसपर वही नहीं तुलता, जिसे आप देते हैं, आप भी तुल जाते हैं।



# रहो खाट पर सोय !

"शामका यह सुहावना समय और तुम अपनी इस कोठरीमे पडे किताव-के पन्ने चाट रहे हो। यह अजव वेवकूफी है। उठो और ज्यादा नही, तो कम-से-कम पासके ही पार्कमे घूमते-घामते नजर आओ। आखिर ऐसी भी क्या मनहूसियत है।"

"जी, शामका यह सुहावना समय और तुम खामखा मेरी कोठरीमे घुसे मेरे पुस्तक पढनेके आनन्दमे मूसलचद वन रहे हो। यह अजव वेवकूफी है। उठो और ज्यादा नही तो कमसे कम वाहरकी सडकपर ही घूमते-फिरते नजर आओ। आखिर ऐसी भी क्या मनहूसियत है।"

"अरे भाई, तुम भी कमालके आदमी हो। हमने कही एक स्वास्थ्य-विज्ञानकी वात और तुम ले उडे उसे मजाकमे और फिर मजाक भी हल्का कि हमारी ही वात हमपर फिट कर रहे हो। यह अजीव मनमानी है तुम्हारी।"

"अरे भाई, तुम भी कमालके आदमी हो। हमने कही एक जीवन-विज्ञानकी वात और तुम ले उडे उसे मजाकमे। अच्छा रहने दो अव और आगे नही कहता। वरना तुम कहोगे कि यह मेरी ही वात मुझपर फिट कर रहा है।"

"तो शामके समय अपनी कोठरीमे घुसकर खटियापर पडे, पुस्तक पढकर स्वास्थ्य खराव करना भी एक जीवन-विज्ञान है, क्या अजीव मन-मानी है।"

"जी हां, शामके समय कोठरीमे घुसकर खटियापर पडे पुस्तक पढना भी जीवन-विज्ञान है, पर मै यह स्वीकार करनेमे भी शरमाऊंगा नही कि यह

अधूरा जीवन-विज्ञान है और लीजिये तुम्हे नये प्रश्नोंकी सनाकसनसे बचानेको यह भी बता दूं कि यह पूरा तब होता जब मैं यहां खटियापर पड़े पुस्तक पढ़ता नहीं, खुर्राटोंके साथ सोता तुम्हें मिलता।"

"वाह मेरे शेर, क्या छलांग मारी है तुमने कि शामके समय श्रीमान् जी सोते मिलते, तो जीवन-विज्ञान पूरा हो जाता। अरे मियां, यह क्यों नहीं कहते कि खटियापर मरे मिलते, तो जीवन-विज्ञानमें चार चांद ही लग जाते!"

"इसमें न वाहकी जरूरत है, न आहकी, बात तो सिर्फ इतनी है कि तुम्हें हो गई है अक्लकी बदहज्मी और मैं बात कर रहा हूं अक्लकी, जिसे तुम पचा नहीं सकते, पर खैर, अब मेरी कोठरीमें आ गये हो, तो तुम्हारी खोपड़ीमें भी यह जीवन-विज्ञान उतरना ही पड़ेगा।"

"कैसे?"

"कैसे क्या था इसमें? बस हकीम तुलसीदासकी हाजमेकी गोली देनी पड़ेगी तुम्हें, और जहां वह गोली तुमने जरा पपोली, चूसी कि तुम्हारे दिमागके किवाड़ इस तरह खुल जायेंगे जैसे भगवान् वेदव्यासकी कृपासे कभी संजयके खुल गये थे।"

"यह सब क्या ढोंग रचा रहे हो तुम?"

"ढोंक-बोंक कुछ नहीं, बस गोली तैयार है और अब तुम भी तैयार हो जाओ। डरो मत, यह कोई साधारण गोली नहीं है कि जागतोंको सुला दे, यह वो गोली है जनाब, कि सोतोंको जगा दे और जागतोंको चंगा दे।"

"तो फिर जो होगा देखा जायगा, चलाइये अपनी गोली, हम भी छाती खोले तैयार हैं।"

"जी, इस गोलीमें छाती खोलनेकी जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि तुलसी-दासकी यह गोली सीधे छातीपर नहीं पहुंचती, कानोंकी राह छातीमें उतरती है।"

"तो यह बात है ?"

"जी हाँ, यह बात है, अच्छा तो कान खोल लो, वह गोली आ रही है और गोली क्या है सत तुलसीदासका ज्ञानामृत है कि "तुलसी भरोसे राम-के रहो खाटपर सोय ।"

सुन लिया तुमने अजी, सुन लिया तुमने कि सन्त कवि तुलसीदास जी किस्मतकी बात है कि अकलके मामलेमे तुमसे इच दो इच आगे ही हैं, जीवन-विज्ञानका यह सार कह गये है कि भाई, झगडे-झमेलेमे मत पडो और आरामसे खाटपर पडकर सोओ। अब बताओ कि अपनी कोठरीमे खाटपर पडा मै उनकी बातका आधा पालन तो कर ही रहा हूँ, फिर तुम इस तरह क्यो चिचिया रहे हो कि जैसे मैने किसीकी जेब काट ली हो और तुम कोई पुलिस इन्सपेक्टर हो ।"

"भई, यह तो तुमने गजबकी गोली खिलाई और इससे वाकई दिमाग के किवाड खुले जा रहे है, पर यह तो बताओ कि सचमुच यह तुलसीदासके दवाखानेकी है या भले आदमी, घरमे घोटकर उनका लेबिल लगा दिया है तुमने। आजकल यह मर्ज बुरी तरह बढ रहा है, कही छूतकी इस झपे-टमे तुम भी तो नही आ गये ?"

"जी नही, यह सौ-टका तुलसीदासकी गोली है और देखते नही आप कि ऐसा विशाल अनुभव और है ही किसे, जो एक लाइनमे सारी गीता कह दे ?"

"अच्छा जी ! तो इस लाइनमें सारी गीता कह दी गई है ? भाई, सच बात यह है कि तुम्हारी गोलीसे हमारे दिमागके किवाड तो खुल गये है पर कमरा अभी खाली ही है।"

"घबराओ मत भाई जान, जब कमरा खुल गया है, तो उसमे ज्ञान-पुरुषका पदार्पण भी होनेवाला ही है, और लो, होनेवाला क्या है, हो ही रहा

है। तुलसीदासके इस हिन्दी वचनपर उर्दूके एक ज्ञानीने अपना प्रवचन किया है। उसे तुम सुनो तो शायद सब कुछ ही पा जाओ। वह कहता है—

"ऐहसान नाखुदाका उठाए मेरी बला!
किश्ती खुदा पे छोड दूं लंगरको तोड दूं!"

कुछ आया तुम्हारी समझमें या अब भी नासमझीका ही दौर-दौरा है? हां, तो लो अब तुम्हें अ आ इ ई की तरह ही पढाना पडेगा। अरे भाई, लगन-मुहूर्त देखकर, साफ-सुथरी मजबूत नावमें बैठकर, अच्छे मौसममें मल्लाहकी मददसे पार उतर जाना मामूली बात है और यह कोई भी कर सकता है। इन मामूलीसे ऊपर एक गैर मामूली-असाधारण बात यह है कि आदमी मल्लाहका भरोसा न करके अपनी ही ताकतका भरोसा करे और पार उतर जाये, पर यह ज्ञानी कहता है कि यह भी एक घटिया बात है, असली बात तो यह है कि मल्लाहसे बात न करे, नावके बारेमें सोचना बन्द कर दे और नावको पानीमें उतारकर उसमें सो रहे, बस यही तुलसीदासका वचन "तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय", यानी खाट न सही, नाव सही, तुम खुर्राटोंका मजा लो; डोलती-हिचकोलती नाव अपने आप किनारे लगेगी और लगेगी क्या यों ही, लगायेगा लगानेवाला!"

"और क्यों जी, जो लगानेवाला न लगाये नावको पार और मझधारमें कर दे डुबक-डुबक, डुम-डुम, तो क्या हो? बस करो बेटा, पाताल लोककी सैर! यह वचन भी खूब रहा और उसका प्रवचन भी खूब रहा, मतलब यह कि चढ जा बेटा सूलीपर राम भला करेगा। अरे भाई, राम क्या भला करेगा, तेरे प्राण-पखेरू फुर्र हो जायेंगे। भूख अपने पेटमें और रोटी दूसरेके हाथ; उसने समयपर टुकडा दिया, दिया, न दिया, न दिया। भला, यह भी कोई बात हुई!"

"दिया किस तरह नही? दिया और इस तरह दिया कि लेनेवालेका सिर ऊँचा रहा। हमारे देशके एक-दो नही, अनेक भगत गा गये हैं कि—

'होंगे दयाल तो देंगे बुलायके!
लेने कौन जायेगा, देंगे घर आयके!!

घर आकर देना, कोई कल्पना नही है, मेरे भाई, ख्याली पुलाव भी यह नही है। हाँ, या कह सकते हो कि यह जीवनका एक चमत्कार है। फिर यह चमत्कार कोई सन्तोंकी ही बपौती नही, मेरे जैसे साधारण मनुष्यने भी अपने जीवनमे यह चमत्कार देखे हैं। युगपुरुष गान्धीजीने कहा था कि जहाँ सत्य होता है, वहाँ चमत्कार भी होते हैं।

अब कहो, तुलसीदासका वचन, जीवन-विज्ञानका अमृत है या नही? यह अमृत मनुष्यको भिखारी होनेसे रोक देता है और उसे अपनी आँखोमे हीन नही होने देता। यही नही, उसमे एक ऐसी बेफिक्री पैदा कर देता है कि फिक्र, प्यास, तृष्णा, ईर्ष्या, मानसिक हीनता और इसी तरहके दूसरे दोष उसके पास नही फटक पाते। उसमे स्वाभिमान इस सीमातक उत्पन्न हो जाता है कि माँगते ही मिल जानेका अखण्ड विश्वास होनेपर भी वह किसीसे नही माँगता और साफ कह देता है—

'यह गवारा न किया,
दिलने कि माँगूँ तो मिले।
वरना साक़ीको,
पिलानेमें कुछ इन्कार न था।'

हाँ, बिना मागे ही उसकी जरूरत पूरी हो जाती है और जीवनमे कभी ऐसा अवसर भी आता है कि वह प्यासा ही रह जाये, उसे कुछ न मिले,

तब भी उसे दुख नहीं होता कि मुझे यह मनचाही चीज क्यों न मिली। तब भी वह तुलसीदासकी बात मानकर अपनी खाटपर खुर्राटे खेंचता रहता है, क्योंकि उसका विश्वास उससे कहता है कि तेरी माँगमें—तेरी चाहमें ही कहीं कुछ भूल है और वह अपने रामसे कह उठता है—

'तेरे करममें कमी कुछ नहीं, करीम है तू,
कुसूर मेरा है, झूठा उम्मीदवार हूँ मैं।'

उसका एक नमूना मैं अपनी आँखों देख चुका हूँ और तबसे 'रहो खाट-पर सोय' की फिलासफीपर मेरा तो अखण्ड विश्वास हो गया है।

मेरे एक मित्र अपने लिए एक मकान चाहते थे। उन्हें सचमुच मकानकी जरूरत थी और इसे सभी मानते थे। बहुत दिनोंके बाद एक मकान उनके नाम अलाट हो गया, पर तभी कुछ लोगोंने उसमें अड़गा लगा दिया। ये लोग इतने धूर्त थे कि वह सरल मित्र उसमें उलझ गया और मकान न पा सका। मित्रको मकान तो मिला ही नहीं, उनकी बेइज्जती भी हुई, क्योंकि मकानके मामलेको प्रतिष्ठाका प्रश्न बना दिया गया था, पर वे अब भी शान्त थे। उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। उन्होंने कहा—मकान मुझे मिलना चाहिए था, यह ठीक है और उसका न मिलना अन्याय है, यह भी ठीक है, पर भगवान् जाने इसीमें मेरा हित हो।

हम सबने कहा—"यह सब तो मजबूरीका सन्तोष है भाई साहब।" पर वे मुसकराते रहे। बादमें एक दिन हमने सुना कि बरसातमें उस मकानकी एक छत गिर गई और कई आदमी उसमें दबकर मर गये। उन्होंने हम सबसे कहा—"कहो, मकान न मिलनेमें ही हित निकला या नहीं?" सचमुच वह मकान उन्हें मिला होता तो, आज हम समाचार सुननेकी जगह एक मर्मभेदी दृश्य देखते।"

"सचमुच भैया, तुम्हारे तुलसीदासकी यह खाट-फिलासफी तो एक बडे कामकी बात मालूम होती है।"

"बडे कामकी ? अजी, इनसे भी बढकर बडे-बडे कामोकी है यह बात भाई साहब ! लो एक लोक-कथा सुनाता हूं तुम्हे, जिसे सन्त तुलसीके तत्त्वज्ञानकी बस व्याख्या ही समझो।"

एक राजा था। एक उसका वजीर था। वजीर हर बातमे कहा करता 'अच्छा ही हुआ ।' राजाका बेटा एक दिन अपना पहला शिकार खेलने गया। वहाँ शेरने पंजा मार कर उसका दाहिना अंगूठा उडा दिया। जब दरबारमे उसका जिक्र हुआ, तो वजीर बोला—'अच्छा ही हुआ ।' राजाको गुस्सा आ गया । राजाने कहा—'जा निकल जा, मेरे राजसे।' वजीरने कहा—अच्छा ही हुआ और वह दूर चला गया । कुछ दिन बाद भील लोग उस राजकुमारको उठा ले गये और एक खम्भेसे बाँधकर उसे काली माईकी बली देने लगे। जब भीलोका गुरु राजकुमारके गलेपर छुरा रखने लगा, तो उसने वो कटा हुआ अंगूठा देखा। चिल्लाकर गुरु बोला—"छोड दो इसे, यह तो खडित है।" राजकुमार छूटकर घर आया, तो राजाने कहा—देखो, उस दिन वजीरने ठीक ही कहा था कि अच्छा ही हुआ। राजाने आदर-मानके साथ वजीरको बुलाकर उसे फिरसे ओहदा दिया।

क्या तत्त्व है इस लोक-कथाका ? बस यही कि आदमी नही जानता कि किसमे भला है, किसमे बुरा है। और बात यह है कि आदमी सिर्फ आजको देखता है, कलको नही, पर अनुभव यह है कि आजकी बुराईमे कभी-कभी कलकी भलाई छिपी रहती है। कटे अंगूठेने ही राजकुमारकी जान बचाई या नही ?

तो भाई साहब, आजसे तुम भी हमारे गुरु तुलसीदासके चेलोंमे अपना

नाम लिखा लो और यह गुरुमन्त्र कंठ कर लो—"तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय"! फिर सुन लो एक बार यह गुरु-मन्त्र "तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय" और लो, अब साफ-साफ कहो कि अब तो हमारे गुरु-भाई बननेमे तुम्हे कोई ऐतराज नही है ?'

"क्या बताऊँ मेरे दोस्त, सचाई यह है कि तुम्हारी यह बात तो मेरी भी खोपडीमे बैठती जा रही है, पर सच बताओ, इसे माननेमे कोई खतरा तो नही है ?"

"खतरा ? खतरा इसमे बहुत बडा है ।"

"खतरा इसमे बहुत बडा है ?"

"हाँ इतना बडा कि आदमीको जीतेजी मुर्दा बना दे। लो सुनो, तुम्हे इसका अन्धेरा कोना भी दिखाता हूं। आदमी अगर राम भरोसे नही आलस्यके सहारे खाटपर पड सोये, तो बेहूदा हो जाता है और बेहूदापन आदमीकी पराजय है, कोई विजय नही !

राम भरोसे खाटपर सोनेका मर्म भी लो, चलते-चलाते तुम्हे बता दूं। यह मर्म है आदमीका यह विश्वास कि बुरा तो कभी हो ही नही सकता, सब कुछ भला ही भला है। अब वह कर्मोके फलकी चिन्तासे ही नही, प्रभावसे भी बच जाता है। अब तो वह एक यात्री है, जिसे अपनी राह चले चलना है। बस बिना रुके, बिना झुके, चले ही चलना है, यानी उसकी नजर इसपर नही कि जीवनमे मुझे क्या मिला और क्या नही। बस, उसके देखने-सोचनेकी सीमा तो यह है कि मै जिया किस तरह—मेरे जीवनमे कोई खोट तो नही, कोई कमी तो नही, कोई कुरूपता तो नही।"

# जब मैंने नया पोस्टर पढ़ा !

आज बाहरसे आया, तो देखा प्रेसके बाहर जो नया पेशाब-घर बनाया गया है, उसकी दीवारपर छपे हुए २-३ कागज लगे हैं। छपाई मोटी। दूरसे ही पढ़ा—

**यह पेशाबघर केवल प्रेसके कर्मचारियोंके लिए है।**

बार-बार मैंने उसे देखा और बार-बार उसे पढ़ा। देखते-देखते ही कुछ क्षणमें मुझे लगा कि यह पोस्टर मेरे कलेजेपर चिपका है, दीवारपर नही और उससे मेरे फेफड़े ठीक काम नही कर पा रहे है।

सीधे मैं प्रेसमें गया और पूछा कि यह पोस्टर किसने तैयार किया है ?

मेरे पुत्र अखिलेशजी बैठे थे। बोले—तैयार तो मैंने ही किया है।

अपनी बातको उपदेशकी कोटिमें जानेसे रोकनेको मैं जोरसे हँस पड़ा, और वातावरण जब मुलायम हो गया, तो मैंने कहा—"क्यो भाई, बहुतसे लोगोंने दूसरोंके आरामके लिए धर्मशालाएँ बनवा दी, कुछने कुएँ खुदवा दिये, पर तुम्हे यह भी स्वीकार नही कि तुम्हारे पेशाबघरमें आते-जाते लोग अपनी जरूरत पूरी कर लें, जबकि इससे तुम्हारा न एक पाई खर्च बढ़ता है, न काम रुकता है, न कोई दूसरा ही नुकसान होता है।" अखिलेशजी उठे और उन्होंने तुरन्त वह पोस्टर दीवारसे खुरच दिया और यों यह पोस्टर-काण्ड समाप्त हो गया।

अब मैं अपनी कोठरीमें हूँ और देख रहा हूँ कि वह पोस्टर दीवारसे उतरकर भी मेरी खोपड़ीके भीतर चिपका है। फिर जब दाँतोंमें तिनका है, तो जीभ कैसे चुप बैठे और खोपड़ीमें खुरचन है, तो फिर मेरा कहा मानकर वह मेरे काममें कैसे लगे ?

अच्छा, तो क्या है जी, वह खुरचन,

खुरचन यह है कि आखिर किसीके दिमागमें यह पोस्टर लगानेकी बात उपजी ही क्यों ?

सोचते-सोचते ध्यान आया कि अखिलेशजीके घरके सामने ही स्टेट बैंक है और उनके पेशाबघरकी दीवारपर लिखा है—

"सिर्फ बैंक कर्मचारियोंके लिए।"

बस, कुन्जी हाथ आ गई कि बैंकके इस नोटिसको आते-जाते अखिलेश-जी देखते रहे और भीतर ही भीतर उसकी छाप उनके मनपर पड़ती रही और यों एक दिन यह पोस्टर तैयार हो गया।

सहसा मेरे मनमें आया कि यह घटना विज्ञापनके महत्त्वपर कितना पैना प्रकाश डालती है। एक ही बात बार बार सुनते-देखते मनपर एक संस्कार बन जाता है और वह संस्कार तब हमारे कार्यका संचालन करता है। चायका प्रचार भी विज्ञापनके सहारे हमारे देखते-देखते हो गया और सिग-रेटका पहले हो गया था। सिनेमाके हर खेलके लिए जो विज्ञापन होता है, वह हम देखते ही हैं।

मेरे मनमें एक सुई-सी चुभी—बुरी चीजको आवश्यक बनानेके लिए, जब इतने विज्ञापनकी आवश्यकता है, तो अच्छी चीजको क्योंकि मनमें अभी जिसकी माँग नहीं है, आवश्यक बनानेके लिए कितने विज्ञापन और प्रचारकी आवश्यकता है! पंडित नेहरूकी चीन यात्रासे लौटनेपर उनकी पुत्री श्रीमती इंदिरा गांधीने एक पत्रकारसे कहा कि "मुझे चीनकी सबसे बड़ी विशेषता यह लगी कि वहाँके लोगोंमें अपने देशकी शक्ति बढ़ा-नेके लिए अत्युत्साह है।"

पत्रकारने ठीक ही पूछा कि इस उत्साहका स्रोत क्या है? जन-जनमें यह उत्साह कैसे पैदा हुआ?

उत्तर मिला—"इसका एक मुख्य कारण है निरन्तर प्रचार।"

इस प्रचारका उन्होने एक बहुत ही सूक्ष्म उदाहरण दिया कि बिल्कुल छोटे बच्चोमे सामूहिक जीवनके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेके लिए जिस प्रकारकी कहानियाँ सुनाई जाती है, उसका एक नमूना यह है —

कुछ चिडियें एक साथ उडी जा रही थी। एक चिडिया पीछे रह गई और खो गई। इसकी मददके लिए दूसरी चिडियें आई और उन्होने उसे परेशानीमे बचा लिया।

मेरे भीतर निरन्तर जागते प्रचारकको नई स्फुरणा मिली, पर मेरे प्रचारकके हाथ-पैर भले ही प्रचारकके हो, उसकी आत्मा विचारककी है। वह भले ही सफलताकी चाह करे, खोज तो उसकी सत्यके लिए ही होती है।

प्रचारकके शान्त होते विचारक उद्बुद्ध हुआ —स्टेट बैंकवाले हो या फिर विकास प्रेस वाले, उनके मनमे यह कामना क्यो उठती है कि उनकी वस्तुका कोई दूसरा उपयोग न करे ?

हरेक अपने धन-वैभवपर, अपने मकानपर, सामानपर अपना ही कब्जा चाहता है और उसे यह गवारा नही कि उनपर कोई दूसरा हाथ रखे, पर अपनी कोई हानि नही और दूसरोको लाभ, इस सौदेमे भी आदमी क्यो कृपण हो ?

प्रश्नका उत्तर तुरन्त न मिला, तो मन उसकी खोजमे निकल पडा और जा पहुँचा श्रीरामचन्द्र शर्मा 'महारथी'के घर। शर्माजीका घर जाने कितने मित्रोकी धर्मशाला रहा है, पर उस दिन उनके जीनेमे चढा, तो देखा कि उनके शौचालयपर एक ताला लगा है। सोचा-घरका द्वार खुला है और शौचालयपर ताला लगा है, यह एक अजीब नक्शा है।

बातो-बातोमे बच्चोको टटोला, तो पता चला कि आस-पासके लोग रात-अंधेरेमे घुस आते है। सोचा कि यह बात बुरी है, पर सोचा कि इसमे बुराई क्या है ? शौचालय फ्लशका है, इसलिए आस-पासके लोग सम्भ-

वत जिन्हें अपने शौचालय सुलभ नहीं हैं, किसी पड़ोसीके शौचालयका उपयोग कर ले, तो क्या यह कोई दुरुपयोग हुआ ?

नहीं, यह दुरुपयोग नहीं है और मनमें आया कि निश्चय ही यह शर्माजीकी अनुदारता है। अनुदारता, संकीर्णता और असद्भावनाके वातावरणमें मेरा साँस घुटता है, सो घुटता रहा और मुझे यह भी सोचना पड़ा कि भविष्यमें मैं यहाँ नहीं ठहरूँगा, पर दूसरे दिन प्रातः सोकर उठा, तो मैं ही सबसे पहले उठनेवाला था और इस प्रकार मैं ही सबसे पहले शौचालयमें गया। ताला उसपर नहीं था—मेरे मित्रने मेरी वृत्ति जान उसे हटा दिया था, पर किवाड़ खोलते ही मैं सन्न हो गया। शर्माजी सफाई-पसन्द आदमी हैं, स्वयं सफाई करनेमें विश्वास रखते हैं, इसलिए हमेशा उनका शौचालय भी चन्दन-चौक रहता है, पर आज तो वह पूरा नरक था—उसकी कुण्डीमें तो मल भरा ही था, चारों ओर भी गन्दगीके टीबे थे !!

मनमें गुस्सा आया, गलेमें गालियाँ उभरीं और सोचा—इन आदमियोंमें और कुत्तोंमें क्या अन्तर है और शर्माजी ताला लगाकर इनसे बचते हैं, तो क्या बुरा करते हैं ?

नल चलाया, सफाई की, तब कुण्डी पर बैठा और सोचने लगा कि जो शौचालयका उपयोग करे, वह उसकी स्वच्छतामें भी अपना हिस्सा दे, यह सुबोध व्यवस्था है, पर आनेवाला अबोध हो और स्वच्छतामें भाग न ले, तो उसके बाद आनेवाला सुबोध उसके भागको पूरा करनेमें झल्लाये क्यों और भविष्यके लिए ताला लगाकर उसका प्रवेश भी क्यों रोके ? वह सुबोध है, तो अपनी सुबोधता क्यों छोड़े ?

एक बार फिर तालेके विरुद्ध मन विद्रोही हो उठा, पर तभी समन्वयकी सृष्टि हुई कि कोई सुबोध इस स्थितिमें भी उदार रहे, तो वह निश्चय ही आदर्श है, प्रशंसनीय है, पर सहज और स्वस्थ वृत्ति यही है कि हमारा जीवन-

व्यवहार ऐसा रहे कि उससे दूसरेके जीवनकी उदारता पुस-पनपे, सकुचित या नष्ट न हो।

आज जो अनुदार हैं, कृपण है, सकीर्ण हैं, कल निश्चय ही उनमेंसे अधिकाश उदार रहे होंगे और दूसरोके व्यवहारोने ही उनकी उदारतापर ताला लगाया होगा, पर यह कितनी विचित्र बात है कि वे दूसरे ही अब उस अनुदारतापर भाषण देनेमें सबसे अगणी हैं।

भाई बालकृष्ण अरोडा याद आ गये मुझे। उस दिन बातो-बातोमे उन्होने अपने एक मित्रका सस्मरण सुनाया, जिसने उनके साथ बार-बार विश्वासघात किया। अन्तमे कहने लगे—पहले कोई मिलता था, तो मैं मान लेता था कि यह सज्जन हैं, जबतक कि अपने व्यवहारसे अपनेको दुर्जन सिद्ध न कर दे, पर कोई अब मिलता है, तो मान लेता हूँ कि यह दुर्जन है, जबतक कि अपनेको यह अपने व्यवहारसे सज्जन सिद्ध न कर दे। इस परिवर्तनके लिए उत्तरदायी कौन है?

एक दूसरे मित्र है। पहले सबके कामके लिए तैयार रहते थे। फौजदारीके मुकदमेमे एक मित्रकी जमानत की, महीनो खिचे फिरे। तबसे ऐसे चौकन्ने हो गये हैं कि पुट्ठेपर हाथ ही नहीं रखने देते और जिन्होने उन्हे ऐसा बनाया है, वे ही सब जोरसे कहते है—बहुत दिमाग हो गया है अब। मैं कभी ताले कुजीमे विश्वास न रखता था। उस दिन मैं जरा शौच गया कि वह बालक आया और चुपचाप जेबमे हाथ डाल सब रुपये निकाल ले गया। दूसरे दिन मैं शौच गया, तो आप ही आप बिना सोचे दरवाजा बन्द कर गया—बाहर न सही, अन्तर चेतनामे तो घटनाका प्रभाव था ही।

विश्वासघात, तभी शायद सबसे बडा पाप है, क्योकि यह समाजके सर्वोत्तम गुण—सहज विश्वासपर डाका डालता है। हम इससे बचे और यो भलोको बुरा बनानेका काम न करें।

---

# अजी, क्या रक्खा है इन बातों में!

देखिये, आप जानते हैं मैं एक पत्रकार हूँ। वैसे तो गली-गली पत्रकार हैं और ऐसे पत्रकार कि क्या बताऊँ आपको कि न उनका सम्बन्ध है किसी पत्रसे और न वास्ता कागजसे, पर हैं वे इतने बड़े पत्रकार कि उनके लैटर पेपरपर भी यह छपा है और घरके बाहरके छोटे बोर्डपर भी।

बहुतसे साथी हैं कि उन बेचारोंकी मजाक उड़ाते हैं। शायद आप भी उनमें हों और बहुतसे साथी हैं कि उन्हें ताने देते हैं, उनपर नाराज होते हैं, उनसे कुढ़ते हैं, पर मुझे न ताने सूझते हैं, न झुंझलाहट आती है।

देख रहा हूँ कि आपके चेहरेपर जो नाक है, वह जरा सिकुड़ गई है और इससे आपका पूरा चेहरा ही एक प्रश्नचिह्न बन गया है। साफ है कि आपके गले मेरी बात नहीं उतर रही है, पर आप तो जानते ही हैं कि मैं एक पत्रकार हूँ और मेरा काम ही बातोंको गले उतारना है, तो मैं आपके प्रश्नका समाधान अवश्य करूँगा।

और फिर समाधान क्या था इसमें? यह न कोई दर्शनकी गुत्थी है, न राजनीतिकी समस्या, बातोंकी बात है और बातका और सट्टेका बढ़ाना क्या, घटाना क्या? अरे भाई, बात तो सिर्फ इतनी है कि वे कहते हैं हम पत्रकार हैं और मैं कहता हूँ कि बधाई आपको कि आप बेकार तो नहीं हैं, कुछ न कुछ कार है। अब आप ही बताइये कि इस हालतमें ताने, नाराजी और कुढ़नकी गुंजाइश ही कहाँ है?

जी, देखिये, कुढ़नकी इसमें गुंजाइश नहीं है, पर इसमें यह गुंजाइश भी नहीं है, कि आप मुझे भी ऐसा ही पत्रकार समझ बैठें। मैं पत्रकार हूँ, यानी सम्पादक हूँ अपने पत्रोंका।

यह लीजिये वह आ रहा है सामनेसे प्रेसका फोरमैन। लोग समझते

है, जाने क्या होता है सम्पादक, पर यहाँ ८ पन्ने पूरा करनेमे हो जाता है भुस। हा जी, भुस ही है और क्या कि लगने लगता है, जैसे भीतर न खून रहा हो न रस, बस सूखा-सूखा और रूखा-रूखा।

"क्या बात है भाई खैरातीलाल ?"

"बात यही ह कि अग्रलेख अभी तक नही मिला और साप्ताहिक लेट हो रहा है। अब शामके ६ बजे है। नोट कर लीजिये कि आपने रातमे नौ बजेतक अग्रलेख न दिया, तो कल पत्र नही निकलेगा और यह भी सोच लीजिये सम्पादक जी, कि कलकी जगह वह परसो डाकमे पडा, तो सबका सब बैरग हो जायेगा। गगाधरजी तो और तरहके पोस्ट मास्टर थे। वे देर-सवेर भी ले लेते थे, पर यह जो अब नये आये है, बस घडीकी सुई और कलेण्डरकी तारीख देखकर काम करते है। मैंने सब बाते आपसे कह दी है, अब आप जाने और आपका काम। तो नौ बजे भेज दूं सोहन या रिजवानको मैटर लेने ?"

"हाँ, हाँ जरूर भेज देना। मुंह-हाथ धोकर चायका प्याला पिये अब बैठता हूँ मेजपर। तुम ९ क्या ८॥ बजे ही मंगा लेना लेख।"

खैरातीलाल चला गया और मैं अब मेजपर जा रहा हूँ। डेजीबिटियाने मुझे गरम-गरम चाय पिला दी है और मूड ऐसी ताजमताजा हो रही है कि कोई दिमागमे हाथ डालकर चाह, तो पूराका पूरा अग्रलेख निकाल ले। लेख क्या है भारतकी चहुँमुखी प्रगतिको देखनेके लिए एक नया चश्मा ही है।

जी हा, एक नया चश्मा। बात यह है कि आँख कमजोर हो, तो उसे साफ नही दीखता, पर चश्मा लगा लो, तो जोत जाग जाती है। सदियोकी गुलामीमे भारतकी आँखे कमजोर हो गई है, इसलिए स्वतन्त्र भारतमे जो कुछ हुआ—हो रहा है, उसे हम समझ नही पाते। हमारी आँखे तरक्की देखनेकी आदी हो गई है, पर स्वतन्त्र भारत कर रहा है उन्नति।

मेरे अग्रलेखके चश्मेसे यह उन्नति साफ दिखाई दे जायगी।

"वाह भाई वाह, यह तरक्की और उन्नतिकी घुरपट खूब रही। अरे भाई, जो खुदा वही ईश्वर और जो ईश्वर वही गौड, भले आदमी, इनमें भी भला क्या भेद? और जो भेद इनमें नहीं, वह तरक्की और उन्नतिमें कहाँसे आ घुसा?"

है न यही बात आपके मनमें, पर कहूँ एक बात, बुरा न मानियेगा, आपकी बात बस बातोंकी बात है, यानी बेबातकी बात। उसमें न जान है न मान—एकदम पोपली। भाई मेरे, तरक्की और उन्नतिमें बहुत फर्क है। बहुत अन्तर है। लीजिये पहले मेरा चश्मा आप ही लगाइये। तरक्की है भौतिक समृद्धि, बाहरी सुख-साधनोंकी वृद्धि और उन्नति है मानसिक समृद्धि, किसी ऊँचे उद्देश्यके साथ जीवनकी आन्तरिक प्रवृत्तियोंका जुट जाना।

मालूम होता है साफ-साफ ही कहना पड़ेगा आपसे। स्वतन्त्र भारतने बांधों, योजनाओं, कारखानों, भवनोंके निर्माणकी दिशामें जो वृद्धि की है, वह तरक्की है और एक ईमानदार शान्ति-दूतके रूपमें जो कार्य किया है, वह है उन्नति—प्राचीनकी भाषामें एक है अभ्युदय और दूसरा है निःश्रेयस। कहिये, है न नया चश्मा?

तो अग्रलेख मेरा तैयार है मेरे मस्तिष्कमें, पर मेरा पत्र तो मस्तिष्क-पर नहीं, कागजपर छपता है और इसलिए अपना लेख भी मुझे कागजपर उतारना है। तो लीजिये, यह जम गया मैं और यह लिखा शीर्षक। बस अब फर्र—फर्र।

यह कौन चला आ रहा है मेरे कमरेकी तरफ? इन लोगोंके लिए न समय है न असमय, जब देखा उठ लिये हवाके झोंके-से। ओह, राम-चरणजी हैं।

"ओहो! तो सम्पादकजी अभी अपनी कुर्सीपर ही जोग साध रहे

है। अरे भाई, चमगादड और उल्लू दुनियाके सबमे मनहूस जीव है, पर इस समय तो उनके परो और पैरोमे भी चाल आ गई, पर तुम्हारा पहिया ऐसा जाम हुआ कि बस जमा सो जमा। अच्छा लो उठो अब कुर्सीसे।"

अच्छा लो अब उठो कुर्सीसे! यह खूब रही। मुझे अभी अग्रलेख लिखकर पूरा करना है, नही तो पत्र लेट हो जायगा और आप जानते है यह बहुत बुरी बात है। मै उनसे कह रहा हूँ, पर कह वे रहे हैं—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे, लो उठो, बदनमे डालो कुरता और पैरोमे चमकओ चप्पल और बस फुर्र-फुर्र, सीधे लक्ष्मी टाकीजमे। अरे भाई, वो शानदार पिक्चर है सम्पादक जी, कि उसके एक-एक गीतपर दो-दो लेख और एक-एक डायलागपर चार-चार अग्रलेख न्यौछावर हो जाएँ।"

मै अपनी मजबूरियाँ अपने बोलोमे पिरो रहा हूँ, पर उनके पास सबका एक ही उत्तर है अजी क्या रक्खा है इन बातोमे और लीजिये वे मेरा कुरता खूँटीसे उतारे ला रहे है और मेरे चप्पलोको अपने बूटसे मसलते-धकेलते-सरकाते। उनके हर व्यवहारका एक ही अर्थ है—अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे!

एक तरफ पत्रका अग्रलेख और दूसरी तरफ सिनेमाका शो। साफ-साफ एक तरफ प्रतिष्ठा और जिम्मेदारीका प्रश्न और दूसरी तरफ एक मामूली मनोरंजन, जो कभी भी किया जा सकता है। क्यो जी, यह क्या बात है कि इतने छोटेसे प्रश्नके मुकाबले, इतना बड़ा प्रश्न मेरे मित्रके गले क्यो नही उतरता? मै अपने कामका महत्त्व जब उन्हे समझानेका प्रयत्न करता हूँ, वे कहते है—अजी क्या रक्खा है इन बातोमे और समझते है कि अब मेरी बात कोई बात नही और बस उनकी बात ही एक बात है, पर प्रश्न तो यह है कि वे समझदार आदमी है, फिर मेरी बातको क्यो नही समझ पा रहे?

मुझे याद आ रही है उस दिनवाली टेलीफोनकी बात। अरे साहब, अब क्या सुनाऊँ आपको, पर सुनानी तो है ही। मुझे अपने मित्र सेठ सेवकराम खेमकासे कुछ काम था कि मैंने टेलीफोन उठाया और उनका नम्बर मांगा। उनका टेलीफोन बहुत कम ऐसी भलमनसाहत बरतता है कि मागते ही मिल जाये, पर उस दिन वह मिल गया और एक रूखी-सी आवाज कानोंमे पड़ी—"किसे पूछते हो ?"

मैंने सेवकरामजीका नाम बता दिया, तो पूछा—"कौन हैं आप ?"

मैंने अपना नाम उन्हें बताया—प्रभाकर ! करूँ भी क्या, उपनाम ही मेरा नाम हो गया है और वही मुझे बताना पड़ा।

"सेठ जी भीतर हैं, अपना नाम बताइये, तो हम उन्हें कह दें।" फोनमें फिर प्रश्न हुआ और मैंने फिर अपना उपनाम बताया—प्रभाकर। सुनते ही वे बोले—"क्या कहा—टमाटर ?"

अपने सम्बोधनमें हरेक आदमी जीवनमें बहुत कुछ सुनता है, मैं भी सुनता ही रहता हूँ, पर वह सुनना सचमुच कुछ सुनना था और सच बताऊँ आपसे, सुनते ही मैं तो हँसते-हँसते लोटपोट हो गया और टेलीफोन रख देनेके सिवा मुझे कुछ न सूझा, पर [illegible] सभी जानते हैं। थोड़ी देर बाद सेवकरामजीसे फोन मिला, तो पूछा—अरे भाई, ये कौन थे फोनपर, जो मुझे टमाटर बना रहे थे ?

वे भी खूब हँसे और तब बोले—'भाई साहब, वे हमारे रसोइया जी थे। बात यह है कि उनकी रसोईमें आप तो कभी आते नहीं, पर टमाटर रोज आते हैं, अब आप ही बताइये कि प्रभाकरकी जगह वे टमाटरको याद करते हैं, तो क्या बुरा करते हैं ?'

सुनकर मुझे भी इतने जोरकी हँसी आई कि टेलीफोन रख देनेके सिवाय कुछ और नहीं सूझा, पर तभी घूम गई मेरे सामने रामचरणजीके आत्म-

की बात कि वे मेरे अग्रलेखको महत्त्व न देकर सिनेमा चलनेको महत्त्व क्यों दे रहे थे ?

क्यों दे रहे थे ? वही तो कह रहा हूँ। बात यह है कि हम जो चाहते हैं, वह चाहने लायक है या नही, इसे भूल जाते हैं और भूल क्या जाते हैं चाहका चाव हमे दूसरी बातपर ध्यान ही नही देने देता, क्योंकि ध्यानका आधार है सम्पर्क, पर जब कोई बात अपनी गहराईसे अपनी सचाई और हमारी चाहके बीचमें आकर खड़ी होती है, हमे अपने बारेमे सोचनेको मजबूर करती है, तब सचाई और गहराईके उस तकाजेको टालनेके लिए हम एक ढालका प्रयोग करते हैं और वही ढाल है, अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमे !

जीवन भी एक अद्भुत यन्त्र है, अजीब मसमसा है। इसमें बहुत-सी चीजे हैं जिन्हे हमने कभी नही देखा और कभी नही जाँचा, पर हम उन्हे १०० नही सवा सौ फीसदी सच मानते हैं। ऐसी एक बात है कबूतर और बिल्लीकी। कहते हैं जब कबूतर अपने मजेमे गुटर गूं लगा रहा हो और एक डरावनी बिल्ली कहींसे बचती-सिमटती अचानक उसके सामने आ कूदे, तो तै है कि बिल्ली नही, मौत ही छातीपर आ कूदी।

अक्लकी माँग है कि कबूतर अब एक भी पल खराब न करे, अपने पर तोले और झपाकेसे यो उडे कि श्रीमती बिल्ली देवी जी देखा करे टुकर-टुकर और मांजा करे अपनी ही जीभसे अपने होंठ, जैसे रसगुल्ला किसी बच्चेके ओठोंसे लगकर नीचेकी गन्दी जमीनपर आ गिरा हो, पर नही, कबूतरजी न तोलेंगे पर और न लेंगे उडारी, बस अपनी जगह जरा सिमटेंगे और आँखे करेंगे बन्द और समझे आप कि समझेंगे यह कि न अब हम दीख रहे हैं देवीजीको और न कुछ कर सकती हैं हमारा वे।

कहते हैं जब आदमी सोता है, उसकी अक्ल तब भी जागती रहती है। तो अब उनकी अक्ल उनकी इस समझदारीपर हँसेगी और कहेगी उनसे

कि भले आदमी, ज़रा आँखकी दोनों नहीं, तो एक ही पुतलीको टिमटिमाकर देख, यमराज अपना पंजा साध रहा है बौड़म, पर जानते हैं आप कि कबूतरजी क्या कहेंगे यह बात सुनकर ?

वे कहेंगे बस यह कि अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें और बस ज़रा और सिमट जायेंगे वे महाशय, जैसे स्वयं ही अपनी रोटीका एक ग्रास, चपातीका एक लुकमा बना रहे हों। यह दुनिया दूसरोंको रोटीका ग्रास बनानेमें वैसे ही बहुत होशियार है, फिर जब कोई स्वयं ग्रास बननेमें सहायता-सहयोग देने लगे, तो क्या कहने—मुफ्तमें और मीठा। पता नहीं बिल्ली और कबूतरकी इस बातमें कितनी सचाई है और कितनी नहीं, पर मेरी आप मानें तो इसे सच मान लें और सच भी सचमुच १००फी सदी।

अपनी बात कहूँ आपसे ? मैंने तो पिछले सालमें इसे पूर्ण सत्य मान लिया है और यह काम किसी खंडहर या वीरानेमें नहीं, भारतकी राजधानीके चहल-पहली कनाट प्लेसमें एक बेंचपर बैठे-बैठे किया था।

"क्या किया था आपने कनाट सर्कसमें बैठकर ?" यह आप पूछ रहे हैं और मैं कह रहा हूँ आपसे कि कनाट सर्कसमें बैठकर मैंने इसे १०० टका सच मान लिया था कि एक ऐसी भी दवा है जिसे खाकर आदमी भयको, खतरेको सामने देखकर भी आँख मींच सकता है और मान सकता है कि अब कोई भय नहीं रहा, बिल्कुल इस कबूतरकी तरह!

"हैं! क्या कहा कि ऐसी कोई दवा है कि जिसे खाकर आदमी सामनेके भयको भूल सकता है ?"

हाँ जी, आपका प्रश्न सही है, सच है, वास्तव है और मैं कहता हूँ कि हाँ, एक ऐसी दवा है और लीजिये बताऊँ आपको कि वह दवा ऐसी नहीं कि गोविन्द पंसारी पुड़ियामें बाँध दे या केमिस्ट तैयार कर शीशीमें घोल दे। यह दवा ऐसी है कि आप ही घोटें और आप ही पियें। वह दवा है यह ज्ञान

कि अजी क्या रक्खा है इन बातोमे और इस ज्ञानका साक्षात्कार मुझे कनाट सर्कसमे हुआ था।

बात यह हुई कि मैं कनाट सर्कस मे एक बेंचपर बैठा ताजी हवा ले रहा था कि मेरे पास ही सडकपर एक मोटर टैक्सी रुकी और उसका ड्राइवर और यात्री दोनो गुत्थमगुत्था होने लगे। लडतोके बीचमे आ कूदना और लडाईको असम्भव कर देना, मेरा स्वभाव है और स्वभाव न समय देखता है न स्थान। मैं भूल गया कि मैं परदेशमे हूँ और जा पहुचा युद्ध क्षेत्रमे।

पहला निशाना बिठाया मैंने ड्राइवरपर—"अपनी सवारियोसे ही लडते हो भैया?" बोला—"बाबूजी, जब सवारी नाकू हो जाय तो क्या करे? सुबह आठ बजे इन्होने टैक्सी ली और कुतुबमीनार और जाने कहाँ-कहाँ ले गये। अब ५ बजे गाडी छोड रहे है, तो कहते है कि किरायेके रुपये मेरे पास नही है।"

यात्री साहब झभककर बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे। लो हटो, अब हमे जाने दो। दो चार दिनमे फिर मिलगे और न मिले, तो यार, कयामतके दिन अपना हिसाब कर लेना, वहाँ जरूर मिलगे!"

यात्रीकी यह बेफिक्री देखकर मुझे लगा कि ड्राइवरकी बात झूठी है और बात यह नही कुछ और है, पर तभी तमककर ड्राइवरने कहा—"कयामतके दिन नही, हिसाब तो मैं तुझसे अभी करूँगा वे!"

यात्रीने गुर्राकर कहा—"तो ले, अभी कर" और घूसा मारकर खिडकीका शीशा तोड दिया। मैंने उसे थपथपाया—"आखिर बात क्या है? और ड्राइवर भाईकी बात सही है, तो आपको इनके किरायेके रुपये अभी देने चाहिये।"

नम्रतासे वह बोला—"बडे भाई, रुपये जब जेबमे है ही नही, तो दे दूं क्या इन्हे?"

तो जब रुपये आपकी जेबमें नहीं थे, तो आप दिनभर टैक्सीमें क्यों घूमते रहे मेरे भाई ? मैंने पूछा तो वे तड़ाकसे बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें। भाई साहब, सुबह-सुबह ही दो फ्रेंड मिल गई और कहने लगीं कि चलो घूमने। महीनोंकी मनहूसियतके बाद खुशीका यह मौका मिला, तो मैं कैसे इन्कार कर देता, भला आप ही बताइये कि क्या रक्खा है इन बातोंमें !"

उनकी बात सुनकर सच कहूँ आपसे कि मैं मान गया कि कबूतर आँख मींचकर जरूर बिल्लीको भूल सकता है और यह दवा ऐसी है कि इसे खाकर आनेवाला भय और खतरा पास नहीं फटक सकता। सौ खतरे हों, लाख भय हों, उन्हें सोचो मत—अजी क्या रक्खा है इन बातोंमें !

तो क्या हमारे रामचरणजी, क्या कबूतरजी, और क्या हमारे यानी-जी, सबकी बातोंमें एक बात है कि क्या रक्खा है इन बातोंमें—यानी क्या रक्खा है कर्त्तव्यमें और क्या रक्खा है जिम्मेदारीमें, छोड़ो उन्हें और जीवनकी मौज-बहार लूटो।

सोच रहा हूँ, तो छोड़ दूँ यह लेखका लिखना और चला जाऊँ सिनेमा भाई रामचरणके साथ—आखिर इतनी दूरसे आये हैं वे ? अन्तःकरणका उत्तर है—कर्त्तव्यकी निष्ठा और दृढ़ संकल्प ही व्यक्तिको व्यक्तित्व देते हैं और इसमें ढील आई कि आदमी खोखला हुआ। नहीं, मुझे अपना काम करना है और कहीं नहीं जाना है—लाख बातें हैं, पर क्या रक्खा है इन बातोंमें !



# मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ या बेवक़ूफ़ ?

[ १ ]

"अच्छा भाई, आज तो फिर कोई कहानी सुना।"

"ले फिर सुन, पर हाँ, यह बता कि आपबीती सुनाऊँ या जगबीती ?"

"अरे भाई, जगबीती तो हमेशा ही जुगालते रहे, आज तो आपबीती सुना, जो दिलसे निकले और कलेजेमे समाये।"

यह लोक कथामे युग-युगोसे चली आ रही आपबीतीकी भूमिका है और जब भूमिका मैंने यहाँ ली, तो मुझे भी आज अपनी आपबीती ही आपको सुनानी है, पर सोचता हूँ कि आपबीती भी क्या सुनानी है, आपसे एक सलाह लेनी है और सच तो यह है कि सलाह भी कुछ नही लेनी। बस एक अजब मखमसेमे उलझ रहा हूँ, तो चाहता हूँ कि आप ही हाथ पकडकर किनारे लगा दे।

आँख नही तो जहान् नही, ठीक ही है, पर कम्बख्त आपा नही देखती, दूसरोको घूरा करती है। बात मेरी है, पर मेरी ही समझमे नही आती और क्या कहूँ आपसे कि चादरपर स्याहीके धब्बे मेरी ही दावातके है, पर तै नही कर पाता कि चादर मेरी है या उनकी ?

तो लीजिए फिर आपसे ही पूछता हूँ कि साफ-साफ बताइए—मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ या बेवकूफ हूँ ? ठीक ही है कि पहेली कोई बूझे तो बता-

पता बताये, पर आप जानते हैं कि लाग लपेट मुझे आती नहीं, साफ कहना मेरी आदत, तो अता-पता क्या, बस पूरा पता ही आपके सामने है।

[ २ ]

"हिन्दीके मूक साधक श्री०      जी अस्पतालमें पड़े हैं। परिवारमें कोई है नहीं, तो खबर कौन ले ? भय है कि यह इकलापन उनके जीवनका अन्त न कर दे। क्या उनके लिए कुछ हो सकता है ?" एक मित्रका यह पत्र मिला, तो मन सिहर उठा।

मैंने भाभीजी-ममतामयी श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैनसे सलाह की, तो तै हुआ कि उन्हें यहीं बुला लिया जाय। खर्चके रुपये मित्रको तारसे भेजे कि वह उन्हें यहां छोड़ जाय और तीसरे दिन वे आ भी गये। डेढ़ महीना वे भाभीजीके घर अतिथि रहे। भोजन-पथ्य तो उन्होंने लिया ही, हरद्वार-ऋषिकेशकी यात्रा भी उन्हें करा दी।

अब आया उनकी विदाईका समय, तो सोचा कि अभी बीमारीसे उठे हैं, घर पहुँचते ही पैसा कहां पायेंगे। भाभीजीसे कुछ कहना जँचा नहीं, तो भाई सेवकराम सेकसरियासे बात की। उन्होंने चलते समय आदरसे भोजन कराया और १००) रुपये उन्हें भेंट कर दिये। वे चले गये।

मैं सन्तुष्ट था कि उन मित्रका पत्र मिला—"श्री · जी नाराज हैं कि आपने चलते समय उन्हें श्रीमती चन्द्रवतीजीसे कुछ नहीं दिलाया—या देनेसे मना कर दिया।'

दूसरे साल श्री      जी अपने पैरों यहां आये और स्टेशनसे सीधे सेठानीजीके घर पहुँचे—वहीं अतिथि हुए। मेरी दुष्टताका खूब बखान किया। भाभीजीसे भी मिले। दोनोंको नमन भी किये, पर दक्षिणा कहींसे न मिली, सिर्फ टिकट ही हाथ आया।

इस यात्राकी जो रिपोर्ट उन्होंने साहित्यिक मित्रोंको दी, वह इस प्रकार है--"चन्द्रवती तो उत्तराखण्डकी वनलक्ष्मी है, पर उसके द्वारपर एक ब्रह्मराक्षसका पहरा है!"

साफ है कि वह ब्रह्मराक्षस मैं हूँ!

[ २ ]

एक उदीयमान कविसे पत्र-व्यवहार हुआ और जो वना, उनकी सेवा भी की। मेरे प्रदेशमें एक साहित्यिक-सम्मेलन हो रहा था। उनका पत्र आया कि मेरी इच्छा भी उसे देखनेकी है, पर जेवमें एक पैसा नहीं।

सम्मेलनके मन्त्रीसे मिलकर उन्हें निमन्त्रण भिजवा दिया और इण्टर क्लासका मार्ग-व्यय भी। वे आये, वहुत कृतज्ञ थे कि जीवनमें पहली वार ऐसी ममता मिली। सम्मेलन देखा, मसूरीतक घूमे।

घरमें माँ थी, छोटी वहन थी। वहनके लिए एक साड़ी ले जाना चाहते थे और टिकट तो अनिवार्य ही था। पूछा, तो वोले—१५) रुपये साड़ीके लिए चाहिएँ और १०) किरायेके लिए।

अपनी जेव तो आम तौरपर आकाश-तत्त्वसे परिपूर्ण रहती है। भाई सेवकराम खेमका और उनके अनुज श्री सेवकराम खेमका से २५) के लिए कह दिया। दूकानपर एक साड़ी देखी, जो उन्हें वहनके लिए पसन्द थी, पर उसका दाम २२) रुपये था। वजाज वन्धुको कह दिया कि सिर्फ १५) ही मिलेंगे और साड़ी उन्हें ले दी।

भाई खेमकावन्धु व्यवस्थाचार्य माने जाते हैं, पर काममें भूल गये और शामतक रुपये न भेज सके। गाड़ी सुवह ७ वजे ही जानी थी, इसलिए १०) एक पड़ोसीसे उधार ले उन्हें दे दिये और पहुँचाने स्टेशन गया, तो प्लेट-फार्मपर खेमकाजीका आदमी मिला—२५)का लिफाफा साथ!

गाड़ी उन्हें लेकर चली गई, लिफाफा लिये मैं लौट आया। १५) बजाजको भेज दिये, १०) पंसारीको। समझा, फाइल खत्म हुई, पर ४-५ दिन बाद ही एक साहित्यिक मित्रके पास, मैंने ही उनसे जिनका परिचय कराया था, पत्र आया कि "मैं यह रहस्य नहीं समझ पाया कि आखिर भाई साहबने मेरे २५) कैसे अपने पास रख लिये ?

साफ है कि मैं चन्दा-चक्रवर्ती तो था ही, चन्दा-चटोर भी हो गया !

[ ४ ]

चिड़ियाके बच्चेकी तरह मैंने उसे पोसा। हालत ही तब ऐसी थी कि आँधीका झोंका तो दूर, हवाका एक झपका भी उसे ले उड़ता। उसे स्वीकार है कि उसके लिए जो मैंने किया, वह जीवन-भर और किसीने नहीं किया और उसे स्वीकार है कि उससे अधिक कोई किसीके लिए कर सके, यह असम्भव है।

उसकी घोषणा है कि मैं प्रशंसनीय ही नहीं, उसके लिए पूजनीय हूँ, पर मजेदार बात यह है कि हम दोनोंके सम्बन्धोंमें नीम और बबूल पनपे, आम और अंजीर नहीं—कड़वाहट इतनी कि उससे बढ़कर भी हो सकती है, यह मुझे यकीन नहीं आता, कल्पना नहीं होती!

भला क्यों ? उसे शिकायत है, उसके लिए यह असह्य है कि कहीं व्यवहार में दूसरोंके साथ भी रहूँ! उसकी अन्तश्चेतना है कि वह असाधारण सिद्ध हो, यानी जो कुछ मैंने किया, वह अपनी सद्भावनाके कारण नहीं, उसकी असाधारण पात्रताके कारण किया। ठीक भी है, जब वही व्यवहार दूसरे भी पायें, तो उसकी असाधारणता कहाँ ? नतीजा यह कि न वे मुझसे खुश हुए, न मैं उनसे खुश, बस दोनोंमें एक तनाव-सा बच रह गया।

[ ५ ]

बस, एक ही और! वे मुझसे बहुत दूर हैं, कभी उन्हे देखा नही, सिर्फ पत्र-व्यवहार है। उनके कामसे मैं उन्हे पसन्द करता हूँ और चाह मनमे रहती है कि उनको कोई कष्ट न हो।

समय-समयपर जब भी उन्होने याद किया, मैं उनके निकट आया—जो बना सो किया। उनके ही शब्द हैं—"जीवनमे कई बार तो तुमने मौतसे मुझे उबारा है।"

अब वे भी मुझसे नाराज है, क्योकि वे अब जो कुछ चाहते है, उसके लिए एक लम्बी भाग दौडकी जरूरत है और अपने सिरकी भयकर बीमारीके कारण यह भाग दौड मैं कर नही सकता। मैं उन्हे जो पत्र लिखता हूं, उसमे वे और सब कुछ पढते है, सिर्फ मेरे रोगकी बात नही पढते। मेरे पुत्रने जब उन्हे यह समाचार दिया कि मैं दिल्लीके स्टेशनपर रेलके पुलसे लुढक गया, तो इसके उत्तरमे भी उन्होने यही लिखा—"मेरे लिए वे कब कुछ करेंगे!" और उसीमे यह भी—"मेरे लिए उन्होने अभीतक कुछ भी नही किया।"

[ ६ ]

ये तो हुई परिचितो-मित्रोकी बातें, पर यह भी अक्सर हुआ है कि न जान-न-पहचान, कही उन्होने नाम सुन लिया और पत्र लिखा, जिसमे उनकी परेशानियोकी चर्चा और किसीके बात न सुननेकी शिकायत!

अपने पास तो प्ररणाकी ही पूंजी है और इसीका दो तरहसे उपयोग कि किसी उदार मित्रको कहकर कुछ रुपये उनके पास भिजवा दिये और उन्हे प्यार-प्रोत्साहनसे पूर्ण एक पत्र लिख दिया।

रुपये और पत्र उन्हे मिले कि उनका मान और गुणगानसे भरा पत्र आया और यह अनुरोध भी कि मैं उनके लिए कोई स्थायी व्यवस्था करा दूं।

मैंने उनसे स्थायी व्यवस्थाका अर्थ पूछा, उनकी योग्यता जानी और आश्वासन दिया कि कहीं कुछ हो सका, तो प्रबन्ध करूँगा। बस, अब कभी दूसरे और कभी तीसरे दिन यह पत्र कि अभीतक आपने कुछ नहीं किया। मुझे मालूम है कि आपका देश-भरसे परिचय है। आप ऐसे-वैसे हैं, यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं।

अब यदि यह प्रबन्ध हो गया, तो कोई बात नहीं, पर प्रयत्न करने पर भी न हुआ, जैसा कि सम्भव है, तो बस फिर ३-४ तेज-गरम पत्र और इधर-उधरकी बुरी चर्चा—"बस साहब, बात ही बात है, करना-धरना कुछ नहीं।" और यों भी—"मुझे दो महीने उलझाये रखा और फिर पटक दिया।"

[ ७ ]

इस तरह मैं देखता हूँ नाराजीके छोटे-बड़े अनेक गुब्बारे मेरे चारों ओर उड़ रहे हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ये गुब्बारे मुझे बर्र-ततैये और इनसे भी बढ़कर साँप बिच्छू, दीखने लगते हैं।

बेचैन हो जाना, तो मेरा स्वभाव नहीं, पर फिर भी कभी-कभी यह सोचना तो पड़ता ही है कि मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ, या बेवकूफ ? मेरी इस प्रश्न-मालाका अर्थ होता है कि मैंने कोई नालायकी की है, भूल की है या यह सब मुझपर थोप दिया गया है ? मुझे कोई उत्तर तो शायद मिलता नहीं, पर हँसी जरूर आ जाती है। हँसती ही हँसीमें इस मन्दप्रकाशमें मैं अपनेसे ही पूछने लगता हूँ—इन लोगोंकी तुझसे कोई लड़ाई नहीं, दुश्मनी नहीं कि ये तुझसे नाराज हों, तुझे बुरा-भला कहें, फिर इस कड़वाहटका रहस्य क्या है ?

अपनेसे अपने आप ही पूछे इस प्रश्नकी गहराइयोंमें मैं उतर जाता हूँ, उतरता चला जाता हूँ, तो देखता हूँ कि दुबकी, लपटकी, परेशानीकी घड़ियोंमें मनुष्यका मन अति आशावादी हो जाता है और यह इन मित्रोंकी

उपेक्षा सहकर जब कही जरा-सा भी सद्भाव पाता है, तो उसे लगता है, बस यही है वह, हाँ, यही है वह, जो मुझे सब सकटोंसे पार कर देगा। उसे इससे एक शान्ति मिलती है, विश्राम मिलता है और वह विरामकी कल्पना कर लेता है—

—और यह भूल जाता है कि हरेककी अपनी सीमा है, अपनी शक्ति है। बस जब यह भूल खुलती है, तो वह झटका खाता है और बौखला उठता है। बात यह है कि एक दुखको हम विवशताकी शक्तिके सहारे झेलते रहते हैं, पर बीचमे थोडा-सा सुख पाकर जब हम फिर उसी दुखमे घिरते है, तो वह अब हमारे लिए एकदम असह्य हो जाता है, हालाँकि कलतक हम उसे काफी धीरजसे सह रहे थे।

मैं सोचता हूँ, बीमारीकी जड़ तो यो हाथ आ गई दीखती है, पर इसका इलाज क्या है? प्रकृतिका विधान विचित्र है कि पहाडोपर जहाँ 'बिच्छू घास' होती है कि छूते ही नस-नसमे लहर हो जाय, वही 'पत्ता' भी होता है कि मलते ही लहर बुझ जाती है। इस रोगमे ही इसका इलाज भी है।

जबतक आजकी या आज जैसी समाज व्यवस्था है, इस तरहकी परेशानियाँ रहेगी और उनमे मनुष्य मनुष्यसे उम्मीद भी करेगा ही, तो यो ये दो आदमी, जिसमे एक है परेशान और दूसरा वह, जिससे उस परेशानीमे है सहायता-सहयोगकी उम्मीद।

बस, तो पहला 'कुछ' चाहे, 'बहुत कुछ' न चाहे और 'सब कुछ' तो कभी न चाहे, क्योकि दूसरेकी भी सीमाए है, यह वह भूला कि भटक गया।

और दूसरा जो कुछ कर सके करे, पर एक भी शब्द ऐसा न कहे, न लिखे, जिससे पहलेका 'कुछ' पलक मारते "बहुत कुछ" मे 'सब कुछ' तक पहुँच जाए। यही नही, इतना और भी कि साफ तौरपर ऐसी दीवार खीचनेमे न चूके, जिसे छलागना पहलेकी उमीदो-आशाओके लिए सम्भव हो।

---

# बेईमान का ईमान, हिंसक की अहिंसा और चोर का दान !

दोपहर भोजनके बाद मुझे ध्यान आया कि मेरे अतिथिको पान मिलना चाहिए। कोई पास था नहीं, तो मैं ही चला गया सिनेमाके पानवाली दूकानपर।

"भाई, मेरे पास दो रुपयेका नोट है और मुझे दो पान लेने हैं—दोगे ?" बादकी उलझनसे उसे और अपनेको बचानेके लिए दूकानदारसे मैंने कहा।

वह पान लगाने लगा, मैं खड़ा रहा। तब पान लिये, नोट दिया और उसने जो एक रुपया और बाकी रेजगी दी, उसे जेबमें डाल चल पड़ा। खोटा-खरा देखना मेरे संस्कारके विरुद्ध है, क्योंकि मैं पारखी नहीं, विश्वासी हूँ। अक्सर खोटे सिक्के आ जाते हैं और अपने नियमके अनुसार उन्हें कुएँ या नालीमें फेंक देता हूँ। उन्हें किसीको चलाता नहीं और इस तरह अनिवार्य ही कुछ-न-कुछ आर्थिक हानि सहता हूँ, पर संस्कार और नितान्त हानि-लाभ देखकर तो जीते नहीं, तो रेजगी बिना देखे ही जेबमें डाल-कर मैं लौट पड़ा।

'बाबूजी, सुनियेगा जरा।" किसीने पीछेसे मुझे पुकारा, तो मुड़ देखा कि वह पानवाला ही पुकार रहा है मुझे।

"ये पैसे दिखाइयेगा जरा।" पास आते ही उसने कहा, तो लगा कि वह शायद ज्यादा पैसे दे गया है। मैंने जेबसे ज्यों के त्यों निकालकर उसे दे दिये वे पैसे तो उसने उनमेंसे एक निकाला, उठाकर अपनी सन्दूकचीमें रख लिया।

मैंने सोचा—ठीक है, ज्यादा ही दे दिये थे इसने कुछ पैसे, अच्छा ही हुआ इसको ध्यान आ गया। नही तो खामखा बेचारेको नुकसान होता, पर तभी उसने अपनी सन्दूकचीमेसे निकालकर एक सिक्का उनमे रक्खा और पैसे मुझे लौटा दिये।

मैंने उन्हे फिर ज्यो का त्यो, जेबमे रख लिया और पूछा—"क्यो, क्या बात थी भाई ?"

"कुछ नही बाबूजी, एक चवन्नी खोटी थी उनमे, वह बदल दी है।"

मै चल पडा और तब आप ही आप उसने कहा—"ऐसे आदमीसे भी क्या बेईमानी करना, जो देखे, न गिने !"

अब यह रहस्य मेरे सामने खुला पडा था कि उसने मुझे जान-बूझकर खोटी चवन्नी दी, धोखा देनेका प्रयत्न किया, पर मैने उसका पूरा विश्वास किया कि न खरा-खोटा देखा, न गिनती की। मेरे इस विश्वासने उसके मानसको झकझोरा। यह झकझोर इतनी प्रबल थी कि वह उसे सह न सका और स्वय बुलाकर उसने वह खोटी चवन्नी वापस ले ली।

विश्वासकी यह विजय, मानवताका यह सस्पर्श मेरे तन-मनपर छा गया और लगा कि उसने मुझे केवडा पडी मीठी शिकजवी पिलाई है अभी-अभी और उसकी सुगन्ध और स्वादमे मेरा अन्तर भर-भर उठा है।

"क्यो भाई, फिर तुमने पहले ही यह खोटी चवन्नी मुझे क्यो दी थी ?" मैंने उसे तराजूपर चढाया।

"और क्या करे बाबूजी ? गाहक लोग उस्तादीसे हमारे सिर मढ जाते है खोटे सिक्के और सफाईसे हम उनकी ही जेबमे उतार देते हैं उन्हे।" बिना झिझके वह खुल पडा—"इन्हे मैं अपनी दूकानमे तो कुछ बनाता ही नही।"

"अपनी जगह ठीक है तुम्हारी बात।" मैंने उससे कहा और लौट पडा, पर क्या मेरी बातका यह मतलब था कि मैं उसके कार्यका समर्थक

हूँ, उसे ठीक मानता हूँ ? मेरा मतलब था यह कि मैंने मान लिया था कि वह पानवाला मूलमें बेईमान नहीं है—सिर्फ दूसरोंके द्वारा अपने साथ किये बेईमानेको बेईमानेसे बचानेमें विश्वास करता है। कुश्तीकी भाषामें—यह विरोधीके दावको उसीके दावसे काटना है।

"—पर मैंने तो इसके साथ कोई बेईमानी नहीं किया था, फिर इसने मेरे साथ क्यों बेईमानी की ?" यह एक उपप्रश्न आया, पर मनके पास उसका समाधान जैसे पहले ही तैयार था—"इसके लिए तुम, ये, वे, कोई अलग-अलग व्यक्ति नहीं—एक ही व्यक्तित्व है गाहक। बस गाहकने इससे बेईमानी की, इसने गाहककी हजामत बना दी। गाहक गाहक सब एक, पर आज जब इसकी दूकानपर एक ऐसा गाहक आया, जिसके विश्वासी व्यवहारसे सिद्ध हुआ कि यह गाहक तो है, पर बेईमान नहीं, तो इसके भीतरकी सहज ईमानदारीने कहा—बेईमानके साथ बेईमानी तो ठीक है, तेरा नियम है, पर यह तो आज तू ईमानदारके साथ बेईमानी कर रहा है, और बस उसने मुझे स्वयं बुलाकर खोटी चवन्नी बदल दी।'

लौटते-लौटते मैंने सोचा—यह तो बेईमानके ईमानका ही दर्शन हुआ आज और बस मैं आनन्दसे भर गया, पर अपने पलंग पर लेटते-लेटते मेरे अन्तरकी आँखोंमें घूम गया पेशावरका किस्साखानी बाजार और २३ अप्रैल १९३० की सुबह।

तब भारत गुलाम था और गुलामीके विरुद्ध एक बार सारा देश उभर उठा था। शराब और विदेशी वस्त्रोंकी दूकानोंपर स्वतन्त्रताके स्वयंसेवक धरना देते, लाठी चार्जके बीच भारत माताकी जय बोलते, जुलूस निकालते, आजादीके तराने गाते, जलसोंमें हुंकारते और इन्कलाब जिन्दाबादके नारोंसे आसमानको गुंजा देते। सरकार उन्हें गिरफ्तार करती, तो मालाएं, फूल और हथकड़ियां भीड़में घिरे-घिरे वे यों जेल जाते, जैसे बराती हों।

शादीमे जा रहे हो।

अगरेज़ सरकार देशके इस नये उभारसे चिन्तित थी, पर उन्ही दिनो सरहदके सूवेमे जो कुछ हो रहा था, उससे तो वह वहुत ही परेशान थी। वहाँ सरहदी गांधी खान अब्दुल गफ्फार खानके तपस्वी नेतृत्वने खूनी पठानोको अहिंसाका सर्वोत्तम सिपाही बना दिया था और वे लालकुर्ती दलके रूपमें स्वतन्त्रताके युद्धमें कूद पडे थे।

२३ अप्रैलसे पेशावरमे भी शराब और विदेशी कपडेकी दूकानोपर धरना आरम्भ होनेवाला था और इसमे अगरेज़ सरकारको अपनी मौतका वारण्ट दिखाई दे रहा था। देशव्यापी यह धरना, सरहदमें उसके लिए उस अजगरकी तरह था, जो आदमीको अपनी कुण्डलीमें फंसा, अपनी ताकतवर ऐंठनसे उसकी हड्डी-पसलियाँ तोड डालता है। उसे भय था कि यह आग कवायली इलाकोमें फैल गई, तो वस फिर होली ही होली है। वह जानती थी कि मौतके खिलाडी पठान जेल और लाठीसे डरनेवाले नही, इसलिए उसने आगसे आगको वुझानेका फैसला कर लिया था और गढवाली पलटनको आज किस्साखानी वाज़ारमे ला खडा किया था।

अव एक तरफ थे गढवाली जवान—अपनी राइफलोसे लैस-लब्बैक और दूसरी तरफ लालकुर्ती पठान—अपनी वलिदानी भावनासे सजे-वजे। काग्रेसका तिरगा झण्डा आकाशमें फहरा रहा था। चारो ओर वाज़ारोमे, छतोपर, खिडकियोमें दर्शक ही दर्शक थे। एक अजीव वातावरण था, जिसमें सनसनी थी, उल्लास था, कुतूहल था, दर्प था, हुँकार थी।

कम्पनीका कमाडिंग-आफीसर कैप्टेन रिकैट तना खडा था। उसकी परवाह न करके स्वतन्त्रताके स्वयसेवक गढवाली सिपाहियोके पास आ-आकर उन्हें देशकी वात समझा रहे थे। यह देखकर रिकैट चिल्लाता—"हटाओ इनको यहाँसे!" और तव लम्वी-लम्वी सीटियाँ वजाता और

चिल्लाता—"भाग जाओ, भाग जाओ!"—पर उसकी आवाज और सीटी, जैसे वहाँ कोई भी नहीं सुन रहा था।

तभी एक गोरेने आकर रिकैटके हाथमें पर्चा दिया। उसे पढ़ते ही वह चिल्लाया—"तुम लोग भाग जाओ यहाँसे, नहीं तो गोलीसे भून दिये जाओगे!"

वह मृत्युके ताण्डवकी पहली थाप थी, पर एक भी आदमी वहाँसे नहीं हटा। कैप्टेन रिकैट तमतमा रहा था। फौजी आदेशकी टोनमें उसने कहा—"गढवाली तीन राउण्ड फायर! (गढवाली, तीन-तीन गोली चलाओ)।"

गढवाली बहादुरोंकी राइफलें उठीं और निशानेपर आईं, पर तभी गूंजी यह आवाज—"गढवाली, सीज फायर! (गढवाली, गोली मत चलाओ!)" यह कैप्टेन रिकैटके बाईं ओर खड़े क्वार्टर मास्टर हवल्दार चन्द्रसिंहकी आवाज थी।

उन सिपाहियोंके सामने अब दो हुक्म थे—तीन राउण्ड फायर और सीज फायर! हिंसा और अहिंसाका यह एक ऐतिहासिक अन्तर्द्वन्द्व था। हिंसा पराजित हुई, अहिंसा विजयी। 'सीज फायर' का हुक्म पास हुआ और सिपाहियोंने अपनी-अपनी राइफिलें जमीनपर खड़ी कर दीं। भावना किस ऊँचे धरातलतक जा लगी थी, यह तब दिखाई दिया, जब एक सिपाहीने अपनी ५ राउण्ड भरी राइफिल पठानोंको सौंपते हुए दोनों हाथ उठाकर कहा—"लो, अब चाहो, तो तुम हमें मार डालो!"

कैप्टेन रिकैट अवाक्-भौंचक और आकाश 'भारत माताकी जय, महात्मा गांधीकी जय, गढवाली पल्टनकी जय'से भरा-गूंजा; जैसे आज उनमें पहली बार दिनमें फूल खिले हों!

जलती आँखोंसे रिकैटने हवल्दारसे पूछा—"यह क्यों?"

गम्भीर स्वरमें हवल्दारने कहा—"ये लोग तो खाली हाथ खड़े

उसमे एक किताब-सी रखी, तो मैंने भाँप लिया कि माल चकाचक है।

एक बूढा उसकी देखरेख कर रहा था। वह उठकर जरा टट्टीमे गया और मैं उसे उठाकर दूसरे कम्पार्टमेण्टमे जा पहुँचा। मैंने सोचा कि हल्ला मचेगा, तो इसे झाडियोमे फेंक दूंगा और अगले स्टेशनपर उतर जाऊंगा, पर कोई हल्ला नही मचा, तो समझ लिया कि बूढा टट्टीमे आकर सो गया है। यो ही जरा ढक्कन उठाकर देखा, तो लक्ष्मीका धवल रूप आँखे चौंधिया रहा था, पर यह किताब क्या है ? देखा, तो गोआ सत्याग्रहकी रसीद-वही थी। पूछकर जाना कि गोआमें लोग देशके लिए बलिदान होनेको जा रहे है और जनता हर स्टेशनपर दान देती है।

ओह, इस कनस्तरमे सत्याग्रहियोको मिले दानका रुपया है और मै इसे चुरा लाया ! एक बार मुझे ध्यान आया कि बहुत दिनसे ताजमहल होटलमे नूरजहांके साथ तीन दिन गुप्त रहनेकी इच्छा थी, सो इस कनस्तरसे पूरी हो जायगी, पर दूसरे ही क्षण मेरी आत्माने कहा—कम्बख्त, जो लोग देशके लिए मिट रहे है, उन्हे कुछ देना चाहिए या उनका माल हडपना !

बस मैंने अपनी जेब देखी और उसमे जो बाइस रुपये थे, वे उस कनस्तरमे रख दिये। एक पर्चा लिखा कि भाइयो, मैंने आपका कनस्तर चुरा लिया था, पर रसीद बहीसे आपके बलिदानकी बात जानकर जेबके २२ रुपये इसमें रख, इसे आपके पास भेज रहा हूँ। ईश्वर आपको सफल करे और एक आदमीके हाथो कनस्तर सत्याग्रहियोंके डब्बेमें भिजवा दिया।

कहानी सुनकर मैंने कहा—ठीक है, यह चोरका विवेक है, तो सार यह कि मनुष्य किसी भी स्थितिमे हो, विवेकको कभी हाथसे न जाने दे, क्योंकि मनुष्यके जीवनमें विवेक ही मार्गदर्शक प्रदीप है। और यह भी कि मनुष्य लाख बुरा बन जाये, पर कभी बुरा नहीं होता।

---

# सीता और मीरा !

भारतीय इतिहासमे नारी-चरित्रके दो महान् पात्र हैं—सीता और मीरा। सीता सामाजिक मर्यादाका प्रतीक है और मीरा मर्यादा-भगका। क्या ये दोनो नारीके स्वतन्त्र रूप है? दो होकर भी लगता है ये दोनो नारी-चरित्रका आदि अन्त है—एक ही तस्वीरके दो पहलू है। सीता भी अपनेमे अपूर्ण और मीरा भी। ये दोनो मिलकर एक पूर्णताका रूप लेती है।

सीताका सन्देश है सामाजिक मर्यादाओकी अभगता। समाजने समाजके हितके लिए जो मर्यादाएँ रची और जिन्हे नागरिकोने स्वेच्छासे समाजकी समुन्नतिके लिए स्वीकार किया, उन्हे पालनेमें सुख हो या दुख, मान मिले या अपमान, नारीको उन्हें मानना है, पालना है, नही तोडना है, नही ही तोडना है।

सीताने रामकी स्मृतिमे रावणके स्वर्ग-राज्यपर लात मार दी। अशोक-वाटिकामें ऐसी यातनाएँ सही, जो उस जैसी सुकुमारीके लिए ही नही, स्वय रावणके लिए भी असह्य हो उठती, पर वह अडिग रही। रामके विना उसके लिए सव कुछ निस्सार था, पर रामने इस प्रेम-तपके वदले सीताको क्या दिया? समाजके सामने उसकी अग्नि-परीक्षा ली और इस अग्नि-परीक्षाके वाद भी एक मूर्ख धोवीके कहनेपर गर्भिणी सीताको वनमे धकिया दिया। सीता फिर भी अभग रही।

क्या इसका यह अर्थ है कि उसने रामके इन कामोको पसद किया? वह ऐसी भोली न थी—उसने समझा कि वह निर्दोष है, फिर भी उसे दण्ड दिया गया है, पर उसने साथ ही यह भी समझा कि यह दण्ड रामके क्रोधका, उसकी क्षुद्रताका फल नही है। यह रामके समाज-विधान-रक्षक रूपका

कर्तव्य पालन है। उस दण्डको उसने रामके कार्यमें अपना सहयोग मानकर सहा और रामके प्रति अपनी निष्ठाको अखण्ड रखा। समाजने पतिव्रतके रूपमें नारीपर जो मर्यादाएँ लगाई, सीताने अन्याय सहकर भी उनकी रक्षा की। सीताका यह कष्ट समाज-विधानकी रक्षाके लिए सहा गया तप था; जैसे इस युगमें राष्ट्रकी रक्षाके लिए श्रीमती सरोजिनी नायडू और विजय-लक्ष्मी पण्डितकी जेल-यात्रा।

रामने क्रोधवश, घृणावश, प्रतिहिंसावश, क्षुद्रतावश यह सब नही किया, अपने राष्ट्की रक्षाके लिए ही यह कष्ट सहा। कष्ट सहा ? हाँ ! सीता वनमे रही, तो वह घरको ही वन बनाकर रहा। उसके मनमें सीता कभी लाछित नही हुई, अप्रिय नही हुई। वह उसकी यादमे तडफा, रोया, पर अभग रहा। वह स्वय नई रानी ले आता, तो पतित हो जाता। वह भी अडिग रहा, वह भी अडिग रही। दोनोने व्यक्तिगत कष्ट सहकर भी समाज-मर्यादाकी रक्षा की।

हम कह सकते है कि ड्यूक आफ विण्डसरकी तरह राम भरतको राज्य देकर और स्वय सीताके साथ वनवासी होकर भी यही कर सकता था। ठीक है, पर उस युगकी परिस्थितियाँ क्या थी ? जाने कब कबसे चला आ रहा दो सस्कृतियोका सघर्ष तभी रामके द्वारा समाप्त हुआ था और राम तब उस विजयी सस्कृतिकी छायामे एक नई समाज-व्यवस्थाकी स्थापनामें लगा था।

वह तब लगभग उस स्थितिमे था, जिसमें १९२१-२२ मे क्रान्ति-विजेता लेनिन था। एक प्राचीन समाज-व्यवस्था भग हो चुकी थी और उसके स्थानमे एक नवीन समाज-व्यवस्था स्थापित हो रही थी। तब राम जरा भी चूकता, तो सारी क्रान्ति असफल हो जाती। क्या महान राम यह सह पाता !

इससे मिलती-जुलती परिस्थितियोमे महापुरुष कमालपाशाने अपनी प्रिय पत्नीको तलाक दिया या नही ? उसकी परित्यक्ता पत्नी जब महलसे विदा हुई तो कमाल उसे जाते हुए देख भी न सका—रुमाल आँखोपर रक्खे, अपने झरोखेके नीचे वह बैठा ही रह गया।

फिर राम और सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए अलग-अलग रहकर समाजका अन्याय सहा और विण्डसरने देशकी रक्षाके लिए अपनी पत्नीके साथ अपने घरमे अलग रह कर समाजका अन्याय सहा। विण्डसर सम्राट् एडवर्डके रूपमे यदि पार्लमेंटको भगकर उस समय सम्राट् बना रहता और इग्लैंडकी शक्तियोको इस झमेलेमे उलझा, राजनीतिज्ञोमे बुद्धि-भेद पैदा कर देता, तो महायुद्धमें इगलैंडकी वही दशा होती, जो कि फ्रासकी हुई।

एडवर्डने विण्डसर बनकर इगलैंडको बचा लिया, एकदम उसी तरह जैसे रामने सीताको त्याग करके भारतको बचा लिया था। रामने इस एक ही झटकेमे अपने महापुरुषको देवत्व दे दिया और सारे विद्रोहोकी भावनापर तेजाब छिड़क दिया !

इस प्रकार स्पष्ट है कि सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए समाजकी मर्यादाओका पालन किया। यह जानकर भी कि रामका दिया दण्ड अन्याय पूर्ण है, नारी पर पुरुषका राक्षसी अत्याचार है, उसने रामके विरुद्ध विद्रोह नही किया। सीताने रामके दण्डकी ओर नही देखा, रामके उद्देश्यकी ओर ही आँखे रक्खी। मनके प्यालेमे असन्तोषका जो विष घुला, उसे वह भगवान्का चरणामृत मानकर पी गई। एक विशिष्ट उद्देश्यके लिए पतिके साथ पत्नीकी लीनताका विश्वके साहित्यमे सीता सर्वोत्तम उदाहरण है।

राम हमारी सभ्यताके पाणिनि थे। पाणिनिने सस्कृत भाषाको

अपने व्याकरणकी चारदीवारीमे ऐसा घेरा कि वह सदाके लिए विखरनेसे वच गई। साथ ही यह भी सच है कि फूंक-फूंककर पग रखनेकी नीतिने सस्कृतकी ग्रहण शक्तिको रोक दिया। फलस्वरूप उसकी प्रगति रुक गई। सस्कृतको मृतभाषा कहना तो मूर्खता है, पर इसमे सन्देह नही कि वह अतीतका वैभव वनकर तो रह ही गई। निश्चय ही आज भी वह हमारा शक्ति स्रोत है। पर जीवनका प्रवाह तो नही !

रामने समाज-व्यवस्थाकी जो मर्यादा बाँधी, सीता-परित्यागके रूपमे उसका स्वय इतनी कठोरतासे पालन किया और शम्बूक वधके रूपमे जनतामे उसका पालन इतनी कठोरतासे कराया कि आगे चलकर यह मर्यादा आत्म निर्माणकी मधुर साधना न रहकर, बन्दी-जीवनका कठोर नियन्त्रण रह गई। सीताने अपने जीवनके आदर्शसे पुरुषके जिन अधिकारोकी घोषणा की, पुरुषकी प्रधानताका जो प्रदर्शन किया और विशिष्ट उद्देश्यके लिए पुरुषके प्रति नारीके आत्म-समर्पणका जो दृष्टात उपस्थित किया, वह कानून वन गया। अब समाजमे पुरुषके अधिकार नि सीम और नारीका कोई अधिकार नही। हमारे सामाजिक विधानकी कोमलता नष्ट हो गई और वह पत्थरके स्तम्भकी तरह नारीकी बन्धन-शिला वनकर रह गया।

मीरा इस बन्धन-शिलाके विरुद्ध एक शक्तिशाली विद्रोह है।

मीराने धार्मिक वातावरणमे अपने वचपनके साँस लिये। माँ उसकी वचपनमे मर गई। पितामह दूदाजी परम वैष्णव थे। उनके सम्पर्कमे मीराका मन कृष्ण प्रेममे कुछ इस तरह रँग गया कि उसमे और किसीके लिए स्थान ही न रहा। दुनियाने जाना और माना कि मीराका विवाह मेवाडके महाराणा साँगाके ज्येष्ठ पुत्र भोजराजके साथ हो गया, पर मीराका विवाह मीराके लिए तो, उसी गिरिधर गोपालके साथ हुआ, जिनकी मूर्तिको अपने साथ लेकर वह विवाह-सस्कारके आसनपर वैठी।

आनुपंगिक दुर्भाग्य कि वह शीघ्र ही विधवा हो गई और उसके सगे देवर रतनसिंहकी भी मृत्युके कारण उसके सौतेले देवर राणा विक्रमपर आ पडा उसके संरक्षणका भार।

मीरा बन्धनहीन, मर्यादाहीन, स्वच्छन्द साधनी और राणा आदेश, नियन्त्रण और मर्यादाका पुजारी—दोनोमे संघर्ष स्वाभाविक था और वह आया।

राणा सीतापति रामका वंशधर, जिसने वर्णाश्रम व्यवस्थाके विरुद्ध तप करते शूद्रका सिर तलवारके एक ही वारमे धडसे अलग कर दिया और प्रेम-पगली मीरा हरिजन सन्त रैदासकी शिष्या—'गुरु मिलिया रैदासजी, दीनी ज्ञानकी गुटकी।'

राणा सामाजिक बन्धनोका दास, जिसके लिए रानीका स्वरूप यह कि उसे सूर्य भी न देख सके और मीरा इन सब बन्धनोंसे मुक्त, वन-उपवन साधुओंके साथ कृष्ण भक्तिमे नाचती-गाती एक उन्मुक्त विहगबाल!

राणाजी अब न रहूँगी तोरी हटकी,
साधु संग मोहीं प्यारी लागै लाज गई घूंघटकी।

× × ×

सतगुरु मुकुर दिखाया घरका नाचूँगी दे दे चुटकी।

राणाके दिमागमे रानीका चित्र है—सोने-रत्नोमे जडा, रेशममे लकदक और महलोमे बन्द, पर मीराका शृंगार है रुद्राक्षकी माला, चन्दन-चर्चित ललाट और दिन-रातके बन्धनोंसे भी स्वतंत्र।

"महल किला राणा मोहि न चाये सारी रेशम पटकी।
हुई दिवानी मीरा डोले केश लटा सब छिटकी॥"

दीवानी मीराकी घर-घर चर्चा है। इस चर्चामे निन्दाका विष ही घुला है, अमृतकी कहीं एक बूंद नहीं, फिर राणा उस रामका वंशधर,

लोक लाज और लोक-संग्रहके नामपर जिसने निर्दोष पत्नीको वनवास दे दिया। वह अपने वंशकी यह निन्दा कैसे सहे? उधर मीराकी कोई निन्दा करे या स्तुति उसे क्या। उसके लिए तो स्पष्ट दिशा है—"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई !" जिसके लिए दूसरा कोई है ही नही, वह लोक-लाज किससे करे !

राणाकी वहन ऊदांवाई मीराको समझाती है—

"भाभी मीरा, साधाँको सग निवार सारो शहर थारी निंदा करै।"

मीरा बिल्कुल अपनेमे स्पष्ट है—

"वाई ऊदाँ करै तो पडया झक मारो मन लाग्यो रमता राम नूं।"

ऊदांवाई लोक निन्दाका दूसरा पक्ष लेती है—

"भाभी मीरा, गढ चित्तौड राणो जी लाजै गढरा राजवी।"

अरे भाभी, तुझे अपनी निन्दाकी चिन्ता नही है, तो कमसे कम इस महान् चित्तौड और उसके राणाकी तो तू चिन्ता कर, पर मीरा क्या अपने प्रति कही अस्पष्ट है कि वह शरमावे—

"वाई ऊदाँ, तार्योतार्यो चित्तौड राणाजी तार्यो गढरा राजवी।"

अरे वावली ऊदाँ, मैने तो अपने कर्मोसे इस तेरे चित्तौड गढ और उसके राणा दोनोको तार दिया है।

अव नारीने नारीके कोमल मर्मपर उगली रख उसे टटोला।

ऊदांवाई कहती है—

"भाभी मीराँ, राणाजी रो वचन न लोप, उन रूठ्याँ मोडी कोऊ नही !"

भाभी, राणाकी वात न टाल, उनके रूठनेपर तेरी कोई रक्षा नही कर सकता ! ऊदाँ वेचारी नही जानती कि मीराका रक्षक तो सदैव मीराके साथ है—

"ऊदॉं, रमापति आवै म्हारें भं ड अरज करूँ छै तासू वीनती।"

सखी सहेलियोके ये परामर्श, विषका प्याला, काँटोकी सेज और काला नाग सब असफल रहे—मीराका बढा कदम फिर पीछे न मुडा। मीराने अपनी बात अन्तमे दो टूक कह दी—

**राणा नैं समझावो जावो, मैं तो बात न मानी।**

**मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सन्तॉं हाथ बिकानी।"**

मीरा समाजकी मर्यादाके प्रति अथसे इतितक विद्रोही है। न उसे प्रलोभनोसे उस मर्यादामे बॉधा जा सका, न लोक-निन्दाके भयसे और न मृत्यु एव दण्डके आतकसे। वह अपने रास्ते चली और सिर्फ अपने ही रास्ते चली। अपने रास्तेकी ऊँचाई और पवित्रता ही उसके सामने रही, लोकापवाद नही।

मूर्ख और अन्धा समाज यदि असत्यको सत्य, पापको पुण्य और कालेको गोरा कहे, तो क्या हमे झुक जाना चाहिए और उसकी हॉंमे हॉं मिलानी चाहिए ? मीराके जीवनकी प्रतिध्वनि है—नही, एक बार नही, हजार वार नही, लाख बार नही, और वस यही मीराका विद्रोह है !

सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए जिस मर्यादाका कठोर पालन किया, मीराने सत्यकी रक्षाके लिए उसके टुकडे-टुकडे कर दिये और दोनोने मिलकर जैसे ससारमे कहा—समाजकी मर्यादा सकट सहकर भी पालन करनेके योग्य है, जब वह सत्यपर आश्रित हो, शिवपर सतुलित हो और सुन्दरकी विधायिका हो। और समाजकी मर्यादा सकट सहकर, प्राण देकर भी भग करनेके योग्य है, जब वह सत्यके विरुद्ध हो, शिवकी बाधक हो और सुन्दरकी नाशक हो।

स्पष्ट शब्दोमे—मर्यादा साधन है साध्य नही। वह इसलिए है कि सत्य, शिव, सुन्दरका पथ प्रशस्त करे। वह इसलिए नही है कि सत्य,

शिव, सुन्दरके पथमें बाधक बनकर खडी हो– उसे यह अधिकार नही दिया जा सकता, नहीं दिया जा सकता। पहली दशामे वह पोषण है और दूसरीमे शोषण और यह तो बालक भी जानते हैं कि पोषण हमारे सिंचनका और शोषण हमारे सहारका ही पात्र है—जहाँ पोषणका शोषण और शोषणका पोषण होता है, वह व्यक्ति हो या समाज फल-फूल नही सकता !

सीता और मीरा, हमारे राष्ट्रके दो महान् नारी-चरित्र और हमारी नारी-संस्कृतिकी महत्त्वपूर्ण इकाई। इस इकाईके प्रति हमारा शत-शत वन्दन और लक्ष-लक्ष अभिनन्दन।

# मेरे मित्रकी खोटी अठन्नी !

चित्रकार मित्र श्री आशाराम शुक्लके कला-निकेतनसे उस दिन नई दिल्ली रेडियो स्टेशनके लिए चला, तो एक मित्र भी साथ हो लिये। डेढ़ रुपयेमे तागा किया, रेडियो स्टेशन पहुँचे, तो देखा कि जेबमें कोई छोटा नोट ही नही।

दस रुपयेका नोट तागेवालेको दिखाया, तो उसने एक अधूरे वाक्यमें ही अपनी बात पूरी कर दी—"अजी, सरकार !" साथ आये मित्रका हाथ उनकी जेबको छूने वाला ही था कि अपना नोट मैंने उन्हे थमाया और भीतर चला गया। थोडी देर बाद वे भीतर से लौटे, तो मेरा नोट उनके हाथमें था। बोले—"नोट तो टूटा नही, पर एक बला टल गई। जाने कहांसे एक खोटी अठन्नी जेबमें आ घुसी थी और महीना हो गया, टलती ही न थी। एक रुपयेके नोटमें लपेटकर तागेवालेको भिडा आया।"

मुझे यह बुरा लगा। मैंने उन्हें इसके लिए बुरा-भला कहा, तो बोले—"अजी, अब आपकी तरह तो हम भगत हो नही सकते। फिर मै खोटे सिक्के ढालता तो हूँ नही, चलती हुई आई थी, चलती हुई चली गई।"

कोई एक घण्टा बाद हम रेडियो स्टेशनसे बाहर निकले, तो देखा कि वही तागेवाला खडा है। उसने हमें बुलाया और हम बैठ गये। तै करनेकी भी कोई बात न थी, अभी तो हम उसमें आये ही थे।

मुझे खुशी हुई कि वह मिल गया। तागेसे उतरकर नोट टूटेगा, तो सोचा इसकी खोटी अठन्नी भी बदल दूंगा, पर मेरे मित्र मुझसे अधिक चौकन्ने थे। उन्होंने मेरे उतरनेसे पहले ही अपने पाससे दो रुपयेका नोट तागेवालेको थमा दिया। उनके पास शायद वही नोट था और किसी

दुर्घटनाकी सम्भावना भी उनके मनमे न थी, पर तांगेवालेने नोट लेकर जब उनकी ही दी हुई खोटी अठन्नी उनके हाथ दी, तो बेचारे झेंपे भी, झिझके भी, पर करते क्या, राह तो कही थी ही नही। उनकी जेबसे चली अठन्नी, चल फिरकर उनकी जेबमे आ पहुँची।

एक बार तो लगा कि मेरे भीतर हँसी उफन पडेगी, पर तभी जैसे गम्भीरताकी गाँठ उलझ-सी गई। मुझे लगा कि यह खोटी अठन्नी जीवनका एक बडा पाठ है, पर वह पाठ क्या है ?

नोट तुडाकर तीन रुपये मैंने भावनामें हाँ और स्वरोमें ना कहते, मित्रकी जेबमे डाले और अपने कमरेमे आ लेटा—वह अठन्नीका पाठ क्या है ?

[ २ ]

आदमीका मन भी अजीब चीज़ है। सोच रहा था अठन्नीकी बात और जा पहुँचा लक्सर स्टेशन। १९३५-३६ की बात है। एक मुसाफिर स्टेशन मास्टरके पास आया। उसकी गाडी छूट गई थी। रातभर उसे स्टेशनपर रहना था, पर उसके पास पाँच हज़ार रुपये और इतनेका ही ज़ेवर था। स्टेशन मास्टरने उसे भरोसा दिलाया और वेटिंग रूममे सुला दिया। साथ ही एक भगीको इसके लिए भी तैयार कर दिया कि वह रातमे दो बजेके बाद उसे कत्ल कर दे।

स्टेशन मास्टरका लडका सिनेमा देखकर सहारनपुरसे लौटा, तो पिताके डरसे घर न जा, उसी वेटिंग रूममे घुस आया और उसने उस मुसाफिरको बाहर निकाल दिया।

ठीक समयपर भगी आया और अपना काम कर गया, पर मुसाफिरके पास न रुपये निकले, न ज़ेवर। स्टेशन मास्टरने आकर देखा, तो उसका लड़का मरा पडा था और वह मुसाफिर बाहरके टी स्टालपर चाय पी रहा था।

वही खोटी अठन्नीकी बात कि स्टेशन मास्टरके मनमें एक बुरी वृत्ति पैदा हुई। उसने उस बुरी वृत्तिसे दूसरेको हानि पहुँचानेके लिए उसे बाहर फेंका, पर उसने बाहर आनेवालेका कोई नुकसान न कर, स्वय उसका ही गला दबोच लिया, यानी खोटी अठन्नी फिर अपनी ही जेबमे लौट आई।

मुझे याद आगये मेरे मित्र डाक्टर ब्रजमोहन गुप्त। एक बार उन्होने बातो-बातोमें बताया था कि स्वामी विवेकानन्दने अपनी एक पुस्तकमें बडे मार्केकी बात लिखी है कि बिजली चौकोर चलती है और वह जहाँसे चलती है, चारो ओर घूमकर अन्तमें वही आ टिकती है। यही हालत हमारी मनोवृत्तियोकी है। मान लीजिए रामूके हृदयमे श्यामूके प्रति क्रोध, घृणा या ईर्ष्याकी प्रवृत्ति पैदा हुई। वह प्रवृत्ति श्यामूको स्पर्श करेगी, प्रभावित करेगी, पर लौटकर रामूके हृदयमे ही आ समायगी। इस प्रकार उस वृत्तिसे श्यामूका कम और रामूका ही अधिक नुकसान होगा।

यह कितनी विचित्र, पर महत्त्वपूर्ण बात है कि हम जब दूसरेका अनिष्ट करनेके लिए उफनते है, तो अपना ही नाश कर रहे होते हैं और समझते यह रहते है कि हम पूरी तरह सुरक्षित है।

भावनाको भाषाका रूप देते हुए मैंने सोचा—किसीके लिए भी अपने मनमें कडवाहटको, हिंसावृत्तिको, जन्म न लेने दो, भले ही वह तुम्हारा शत्रु हो, क्योकि वह हिंसावृत्ति यदि शत्रुका नाश करेगी, तो तुम्हारा सर्व-नाश करेगी, और वह भी इस तरह कि तुम उसे पहचान भी न पाओ!

मेरे मनमें तभी एक चमत्कारी विचार आया—तो क्या अपने किसी विरोधीको क्षमा कर देना, उसपर कृपा करना नही, किन्तु अपनेको क्रोध और प्रतिशोधकी प्रचण्ड वृत्तियोमे झुलसनेसे बचाना ही है?

[ ३ ]

उनकी मृत्यु हुए कई साल हो गये, पर मुझे लगा कि ठाकुर चन्दनसिंह

कहींसे मेरे पास आ बैठे हैं। कभी वे रुस्तमे हिन्द जैसे थे, पर आज हड्डि-योंके ढाँचेपर खाल मढी थी। पहले जो चेहरा कपूर था, आज तवा हो रहा था। उनके होंठ आज भी हँसते थे, पर यह हँसी भी कुछ हँसी थी! पहले वे हँसते, तो लगता कि मोतियोंकी वोरी खुल गई और आज, जैसे वे अपने रोनेको खुद ही रुग रहे हों!

देखकर जी धक रह गया—"यह आपको क्या हो गया ठाकुर साहब ?" मैंने पूछा, तो वोले—"मैं अपनी जलाई आगमें झुलस गया भाई साहब! आपको याद होगा कि हमारे गाँवमें एक वार ननकू और वुन्दामें मनमुटाव हो गया। दोनोंके खेत पास-पास थे। फसल सोना हुई खडी थी। ननकू एक दिनको कहीं रिश्तेदारीमें गया, तो वुन्दाने उसके खेतमें पतंगा फेंक दिया और वुराईसे वचनेको गाँवकी चौपालपर आ वैठा। उधर हवा पलटा खा गई और आगकी लपटें वुन्दाके खेतमें आ खिलीं।

यही हाल मेरा हुआ। मेरा छोटा भाई वडा होनहार था। उसने वडी तरक्की की। आनरेरी मैजिस्ट्रेट हो गया और वडे-वडे अफसर उसके घर आने लगे। मुझसे यह वर्दाश्त न हुआ, ईर्ष्या मेरे भीतर दहक उठी। वात यह हुई कि लोग उसे मेरा छोटा भाई न कहकर, मुझे उसका वडा भाई कहने लगे। इसे मैंने अपना अपमान समझा और मेरे भीतर क्रोध प्रचण्ड हो उठा, पर भला मैं उसका क्या विगाड सकता था। वह तो अपने गुणोंके कारण नाम पा रहा था।

मेरे भीतर हर समय आग जलती और मैं हरेकसे खाता-फाडता वोलता। इससे जो मेरे थे, वे भी गैर हो गये। मेरी स्त्री मुझे छोडकर अपने पिताके घर चली गई और लडका आवारा हो गया। मैं हर समय भाईको मिटाने-के मनसूवे वाँधता, पर खुद मिटता जाता। अन्तमें मुझे टी० वी० हो गई। छोटे भाईने मेरी वहुत सेवा की, पर उस सेवासे भी मुझे शान्ति न मिली।

मै नौकरको लालच देकर अपना जूठा दूध भाईको पिला देता, जिससे उसे भी टी० बी० हो जाय, पर भाई, उसके भीतर शान्ति थी, वह लहलहाता रहा, मेरे भीतर आग थी, मैं जलता रहा और एक दिन सचमुच जल गया !!"

[ ४ ]

ठाकुर चन्दन सिंहकी कहानी सुनी तो मुझे याद आगई—मेरे मित्रकी पत्नी ज्ञानदेवी। वह अपनी सहेलीके प्रेमीको प्यार करने लगी। कुछ दिन तीनोमें पूरा सद्भाव रहा, पर बादमे ज्ञानदेवीके मनमे यह दुर्भावना जागी कि उसे ही मोनापोली मिल जाय और उसने उन दोनोंके बीचमे जहर बोने शुरू किये। वह जहर बोती, सींचती, उसमें अकुर भी आते, पर वे पनप न पाते।

ज्ञानदेवी अपनी असफलता देखती, उफनती, गरजती, धूल उडाती और हाय-हाय करती। उसका मीठा बोल, कडवा हो गया, चेहरा रूखा हो चला और आदत लडाकू। वह तेजीके साथ प्रचण्ड होती गई और एक दिन उसपर गठियाका ऐसा आक्रमण हुआ कि वह लुंज हो पडी। वह विदुषी अपने रोगका मनोवैज्ञानिक कारण समझती थी, अपने मनको बद-लनेके प्रयत्न भी करती थी, पर उसकी प्रचण्डता उसे फिर आ घेरती थी। बहुत दिनोतक वह यो ही झटके खाती रही। पता नही फिर उसकी नाँव किस किनारे लगी।

[ ५ ]

एक और महिलाके सम्बन्धमे मेरा निजी अनुभव है कि वह अपनी एक सहेलीसे घृणा करने लगी। यह घृणा बढकर प्रचण्ड होती गई और इसका आश्चर्यजनक फल यह हुआ कि उस महिलाकी खाल सख्त होगई—उसका कोमल स्पर्श रूखा होता चला गया।

उन्होने इसके लिए विटामिनकी बहुत गोलियाँ खाई, पर उन्हीके शब्दोमे उनकी खाल आदमीसे हाथीकी होती गई। खालके साथ ही उनकी आकृतिपर भी इसका प्रभाव पडा और वे जैसे पुरुष हो चली। चेहरेकी सारी लुनाई जाती रही, परुषता आगई और आश्चर्यकी बात है कि उनकी हँसीकी मीठी खिलखिल एक करख्त खाँ-खाँमे बदल गई।

बीचमे बहुत दिन उनसे मिलना नही हुआ, पर इसके बाद एक दिन बातचीत हुई, तो देखा कि उनकी वह परुषता अब चेहरेपर नही है और क्या बातचीत, क्या हँसी, सभीमे पुरानी मिठास लौट आई है।

मैने ज़रा बचकर पूछा—"अब तो आपका स्वास्थ्य अच्छा है!"

"और इसका श्रेय आपकी दवाको है!" वे खिलकर कह उठी, तो मै भौंचक! अत्यन्त गम्भीर होकर उन्होने कहा—"वह सब मेरे भीतर उमडी घृणाकी प्रचण्ड वृत्तिका फल था। इसीलिए किसी औषधने काम नही किया, पर अचानक एक दिन मैने आपकी छोटी कहानी पढी—'झरना हँसा'—और बस मेरा जीवन बदल गया, मेरी घृणा पिघल गई और धीरे-धीरे मै कोमल होती चली गई।"

जहाँ मतभेद हो, विरोध हो, झगडा-झझट हो, वहाँ भी प्रेम करो, सेवा करो, सहो और यह सम्भव न हो, तो उपेक्षा करो, तटस्थ होकर वह फाइल सामनेसे सरका दो, पर ईर्ष्या न करो, क्रोध न करो, घृणा न करो। ये वृत्तियाँ हृदयमे जाग ही उठें, तो उन्हे स्थायी न होने दो, प्रचण्ड न होने दो, अपनेपर उन्हे छाने न दो। विवेकसे, विचारसे, सहिष्णुतासे, उन्हे दूर भगा दो, उन्हे शान्त कर दो, क्योकि ये उस आगकी लपटे हैं, जो जलाई जाती है दूसरोको फूंकनेके लिए, पर फूँकती है सिर्फ अपनेको ही। ये ऐसे विष-बुझे तीर हैं, जो चलाये जाते है, दूसरोका सहार करनेके लिए, पर चारो ओर घूमनेके बाद ये काटते है उसी हाथको, जिसका बल पा धनुपसे छूटते है।

---

# एक था पेड़ और एक था ठूँठ !

जिस मकानमे मै ठहरा, उसकी खिडकीके सामने ही खडा था एक पूरा पनपा बाँझका पहाडी पेड। पलगपर लेटे-लेटे वह यो दीखता कि जैसे कुशल-समाचार पूछनेको आया कोई मेरा ही मित्र हो।

एक दिन उमे देखते-देखते इस बातपर मेरा ध्यान गया कि यह इतना बडा पेड हवाका तेज झोका आते ही पूराका पूरा इस तरह हिल जाता है, जैसे बीनकी तानपर कोई साँप झूम रहा हो और इसका ऊपरका हिस्सा हवा जब और भी तेज हो जाती है, तो काफी झुक जाता है, पर हवाके हल्का पडते ही वह फिर सीधा हो जाता है।

हवा मौजमे थी, अपने झोकोमें झूम रही थी, इसलिए बराबर यही क्रिया होती रही और मै उसे देखता रहा। देखता क्या रहा, उसकी झुक-झूममे रस लेता रहा। पडे-पडे वह पेड पूरा न दीखता था, इसलिए मै पलगसे खिडकीपर आ बैठा। अब मुझे वह पेड जडसे फुगलतक दिखाई देने लगा और मेरा ध्यान इस बातकी ओर गया कि हवा कितनी भी तेज हो, पेडकी जड स्थिर रहती है—हिलती नही है।

यहाँ बैठे, मेरा ध्यान एक दूसरे पेडपर गया, जो इस पेडसे काफी निचाई-मे था। पेड क्या था, पेडका ठूँठ था—ठूँठ, सूखा वृक्ष और सूखा वृक्ष माने निर्जीव-मुर्दा वृक्ष। सोचा—यह वृक्षका ककाल है, जैसा एक दिन सभीको होना है। अब मै कभी उस हरे-भरे पेडकी ओर देखता, कभी उस सूखे ठूँठकी तरफ। यो ही देखते-भालते मेरा ध्यान इस बातकी ओर गया कि हवा धीमे चले या वेगसे, यह ठूँठ न हिलता है, न झुकता है।

न हिलना, न झुकना, मनमें यह दो शब्द आये और मैने आप ही आप इन्हे अपनेमे दोहराया—न हिलना, न झुकना।

दूर अन्तरमें कुछ स्पर्श हुआ, पर वह स्पर्श सूक्ष्म था, यो ही सकेत-सा। शब्द चक्कर काटते रहे—न हिलना, न झुकना और तब आया यह वाक्य—न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका, दृढताका चिह्न है और वह वीर पुरुष है, जो न हिलता है, न झुकता है।

तभी मैंने फिर देखा उस ठूंठकी ओर। वह न हिल रहा था, न झुक रहा था। मनमे अचानक प्रश्न आया—न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका चिह्न है, पर इस ठूंठमें जीवन कहाँ है ? यह तो मुर्दा पेड है।

अब मेरे सामने एक विचित्र दृश्य था कि जो जीवित था, वह हिल रहा था और जो मृतक था वह न हिल रहा था, न झुक रहा था। तो न हिलना, न झुकना जीवनकी स्थिरताका चिह्न हुआ या मृत्युकी जडताका ?

अजीव उलझन थी, पर समाधान क्या था ? मैं दोनोको देख रहा था, देखता रहा और तब मेरे मनमे आया कि जो परिस्थितियोंके अनुसार हिलता-झुकता नही, वह वीर नही, जड है, क्योकि हिलना और झुकना ही जीवनका चिह्न है।

हिलना और झुकना; अर्थात् परिस्थितियोसे समझौता। जिस जीवनमे समझौता नही, समन्वय नही, सामजस्य नही, वह जीवन कहाँ है ? वह तो जीवनकी जडता है, जैसे यह ठूंठ और जैसे यह पहाडका शिखर।

मुझे ध्यान आया कि जीते-जागते जीवनमे भी एक ऐसी मनो-दशा आती है, जब मनुष्य हिलने और झुकनेसे इकार कर देता है। अतीतमे रावण और हिरण्यकश्यप इस दशाके प्रतीक थे, तो इस युगमें हिटलर और स्टालिन, जो केवल एक ही मतको सही मानते रहे और वह स्वय उनका ही मत था। आजकी भाषामे इसीका नाम है डिक्टेटरी-अधिनायकता।

विश्वकी भाषा है—दे, ले।

विश्वकी जीवन-प्रणाली है—कह, सुन।

विश्वकी यात्राका पथ है—मान, मना।

इन तीनोका समन्वय है—हिलना-झुकना और समझौता-समन्वय। जिसमें यह नही है, वह जड है, भले ही वह इस ठूंठकी तरह निर्जीव हो या रावणकी तरह जिद्दी!

मेरी खिडकीके सामने खडा हिल रहा था बांझका विशाल पेड और दूर दीख रहा था वह ठूंठ। समयकी बात, तभी पासके घरसे निकला एक मनुष्य और वह अपनी छोटी कुल्हाडीसे उस ठूंठका एक छोटा टहना काटने लगा। सामने ही दीख रही थी सडक, जिसपर अपनी कुदालसे काम कर रहे थे कुछ मजदूर।

कुल्हाडी और कुदाल, कुदाल और कुल्हाडी—मैंने बार-बार इन शब्दोको दोहराया और तब आया मेरे मनमे यह वाक्य—विश्वकी भाषा है—दे, ले, विश्वकी जीवन-प्रणाली है कह, सुन, विश्वकी यात्राका पथ है—मान, मना, अर्थात् हिल भी और झुक भी, पर जो इन्हे भूलकर जड हो जाता है, वह ठूंठ हो, पर्वतका शिखर हो, अहकारी मानव हो, विश्व उससे जिस भाषामें बात करता है उसीके प्रतिनिधि हैं ये कुल्हाडी-कुदाल।

साफ-साफ यो कि जीवनमें दो भी, लो भी, कहो भी, सुनो भी, मानो भी, मनाओ भी, और यह सब नही, तो तैयार रहो कि तुम काट डाले जाओ, खोद डाले जाओ, पीस डाले जाओ!

मैं खिडकीसे उठकर अपने पलगपर आ पडा। बांझका पेड अब भी हिल रहा था, झुक रहा था झूम रहा था, पर तभी मेरे मनमे उठा एक प्रश्न—तो क्या जीवनकी चरितार्थता बस यही है कि जीवनमें हवाका झोका आया और हम हिल गये? जीवनमें सघर्षका झटका आया और हम झुक गये? साफ-साफ यो कि क्या यहा-वहा हिलते-झुकते रहना ही महत्त्वपूर्ण है और जीवनकी स्थिरता-दृढता जीवनके नकली सत्य ही है?

प्रश्न क्या है, कम्बख्त बिजलीका तेज़ शॉक है यह, जो यो धकियाता है कि एक बार तो जडसे ऊपरतक सब पाया-सजोया अस्तव्यस्त हो उठे। सोचा—नही जी, यह हिलना और झुकना जीवनकी कृतार्थता नही, अधिकसे अधिक यह कह सकते है कि विवशता है। जीवनकी वास्तविक कृतार्थता तो न हिलना, न झुकना ही है, यानी दृढ रहना ही है—"मरियम सो मरियम, पैं टरियम नही।"

मै अपने पलगपर पडा देखता रहा कि बाँझका पेड झुक रहा है, झूम रहा है, हिल रहा है और दूरपर खडा ठूंठ न हिलता है, न झुकता है। जीवन है वृक्षमें, जो जीवनकी कृतार्थता-दृढतासे हीन है और वह दृढता है ठूंठमे, जो जीवनसे हीन है; अजीब उलझन है यह!

तभी हवाका एक तेज़ झोका आया और बाँझ हिल उठा। मेरी दृष्टि उसकी झूमती देह-यष्टिके साथ रपटी-रपटती उसकी जडतक चली गई और तब मैंने फिर देखा कि हवाका झोका आता है, तो टहनियाँ हिलती है, तना भी झूमता है, पर अपनी जगह जमी रहती है उसकी जड। हवाका झोका हल्का हो या तेज, वह न झुकती है, न झूमती है।

अब स्थिति यह कि कभी मै देख रहा हूँ स्थिर जडको और कभी हिलते-झूमते ऊपरी भागको। लग रहा है कि कोई बात मनमे उठ रही है और वह उलझनको सुलझानेवाली है, पर वह बात क्या है?

बात मनकी तहसे ऊपर आ रही है—ऊपर आगई है।

बात यह है कि हमारा जीवन भी इस वृक्षकी तरह होना चाहिए कि उसका कुछ भाग हिलने-झुकनेवाला हो और कुछ भाग स्थिर रहनेवाला, यही जीवनकी पूर्ण कृतार्थता है।

बात अपनेमे पूर्ण है, पर ज़रा स्पष्टता चाहती है और वह स्पष्टता यह है कि हम जीवनके विस्तृत व्यवहारमें हिलते-झुकते रहे, समन्वयवादी

रहे, पर सत्यके, सिद्धान्तके प्रश्नपर हम स्थिर रहे, दृढ रहे और टूट भले ही जाएँ, पर हिले नही, समझौता करे नही।

जीवनमें देह है, जीवनम आत्मा है। देह है नाशशील और आत्मा है शाश्वत, तो आत्माको हिलना-झुकना नही है और देहको निरन्तर हिलना झुकना ही है, नही तो हम हो जाएँगे रामलीलाके रावणकी तरह, जो बाँसकी खपच्चियोपर खड़ा रहता है—न हिलता है, न झुकता है। हमारे विचार लचीले हो, परिस्थितियोके साथ वे समन्वय साधते चले, पर हमारे आदर्श स्थिर हो। हमारे पैरोमे जीवनके मोर्चेपर डटे रहनेकी भी शक्ति हो और स्वय मुडकर हम उठने-बैठने-लेटनेमे मदद देनेकी भी।

▫ संक्षेपम जीवनकी कृतार्थता यह है कि वह दृढ़ हो, पर अड़ियल न हो।

▫ दृढ, जो औचित्यके लिए, सत्यके लिए टूट जाता है, पर हिलता और झुकता नही।

▫ अड़ियल, जो औचित्य और अनौचित्य, समय-असमयका विचार किये बिना ही अड जाता है और टूट तो जाता है, पर हिलता-झुकता नही।

▫ दो टूक बात यो कि जीवन वह है, जो समयपर अड भी सकता है और समयपर झुक भी, पर ठूंठ वह है, जो अड ही सकता है, झुक नही सकता।

▫ एक है जीवन्त दृढता और दूसरा निर्जीव जडता।

▫ हम दृढ हो, जड नही।

मैंने देखा—बाँसका पेड अब भी हिल रहा था, झुक रहा था और ठूंठ अनझुका, अनहिला, ज्योका त्यो खड़ा था।

# लीजिए, आदमी बनिए !

"कहो भाई आजकल क्या ठाठ है ?"

"ठाठ ? अरे भाई, ठाठ होगे ठाठ वालोंके, यहाँ तो आज टाट ही टट है।"

"टाट ही सही, पर तुम्हारा गला क्यो सूख रहा है ? तुम तो इस तरह कह रहे हो, जैसे ठाठ तो होती है कोई बडी चीज़ और टाट होता है ो ही कूडा-कच्चर। भाई जान, टाट माने जूट और जूट हमारे शका एक खास उद्योग है। खैर, छोडो यह पहेली-बुझौवल और यह बताओ क तबीयत टाइट क्यो है और लो छोडो तबीयतको भी सिर्फ यह बताओ के यो टूलते-झूलते तुम आ कहाँसे रहे हो ?"

"भैया, स्टेशनसे आ रहा हूँ।"

"अच्छा जी, तो अब कैंची-कमीशनके मेम्बर हो गये हो तुम, पर याद रखना एक दिन सरकारी गाडीमें बडे घर जाओगे। यो घूर क्यो रहे हो ? गो, हम अपनी बात वापस लेते है। यह कोई पुराना जमाना थोडा ही है के जब तलवारका घाव भर जाता था, बातका नही। यह नई रोशनी है के सौरी कहते ही बात खत्म हो जाती है। लो, हमने कैंची-कमीशनकी म्बरीसे भी तुम्हे बरी कर दिया, अब तुम साफ-साफ यह बताओ कि टेशन क्यो गये थे और वहाँसे लटके-झटके क्यो आ रहे हो ?"

"दिल्ली जानेको स्टेशन गया था, पर गाडी नही मिली और गाडी क्या नही मिली, टिकट ही नही मिला। बात यह हुई कि मेलेके कारण भीड बहुत थी और क्यू बन नही पाया। मै अपनी आदमियतसे मजबूर, एक तरफ खडा रहा कि क्यो धक्का-मुक्की करूँ, बस गाडी छुक-छुक कर गई और मेरा नबर ही नही आया।"

"तो बाबूने टिकट बाँटना देरीसे आरम्भ किया होगा। तुमने उसकी गर्दनपर मालिश क्यो नही की?"

"जी, निवेदन यह है कि उसकी गर्दन और मेरी भुजाके बीचमे सरकारने अक्लमन्दीसे काम लेकर लोहेका एक मजबूत जगला लगा दिया है, वरन। आपके उपदेशके अनुसार गर्दनकी मालिश तो होती-न-होती उसके पर्सकी पालिश हो चुकी होती। वैसे सचाई यह है कि उस बेचारेकी मालिश-पालिशका यह मौका ही न था, क्योकि जब यात्री लोग गाडीके छूटनेका समय होनेके बाद ही घरसे चलनेकी आदत रखते हो, तो उसका समयसे काम करना, क्या काम दे?"

"ठीक है, तो बाबूजी बेकसूर थे और यह खुद तुम्हारा कसूर है कि गाडी चलती-फिरती नजर आई, पर तुम खम्भे-से वही खडे रहे।"

"जी, तो आदमी बननेकी कोशिश करना, आदमियतसे काम लेना भी अब कसूर हो गया?"

"माफ कीजिए भाई साहब, आप दूसरेके बोल मेरे मुँहमे रख रहे है। मैंने यह नही कहा कि आदमी बननेकी कोशिश करना कसूर है। मेरा भाव तो यह है कि इस नये युगमे पुरानी आदमियतसे काम लेना कसूर है और जाने दीजिए क़सूरकी बात, उससे अब सफलता नही मिल सकती, जैसाकि आपको नही मिली। ठीक भी है, दिसम्बर-जनवरीमे तीन-सेरा लिहाफ न ओढो, तो नमूनिया निमन्त्रणकी प्रतीक्षा किये बिना ही फेफडोकी खिडकीमे आ झाँकता है, पर वही लिहाफ मई-जूनमे ओढा जाय, तो पाँच मिनटमे स्टीम बाथका मजा आ जाता है।"

"तो भले आदमी, आदमियत भी नई पुरानी होती है?"

"जी हाँ, जमाना नया तो आदमियत नई और आदमियत नई, तो आदमी बननेके नुस्खे नये। मै न पुराने जमानेका तीसमारखाँ हूँ, न इस

ज़मानेका राममूर्त्ति, फिर भी कभी और कही झापड नही खाता—वताओ कभी चूकता है निशाना ? किसीकी वही देख लो या किसीका लेजर, हमारा नाम अच्छे आदमियोमें लिखा मिलेगा और यह सव कोई चमत्कार नही है, जादू नही है,सिर्फ आदमी वननेके नये नुसखोका असर है।"

"तो भाई, हमे भी वताओ आदमी वननेका नया नुसखा, आज तो जो वीती, सो वीती, पर फिर तो न वीते।"

"वहुत अच्छा, अगर आप हमे गुरु वनानेपर उतारू हो गये है, तो ज़रूर वाँधेंगे आपको कठी और कठी क्या, लीजिए आपकी दीक्षा ही हम टिकट खरीदनेके महामन्त्रसे आरम्भ करते है।

टिकट खरीदते समय आदमी वननेका पुराना नुसखा तो वह था, जो तुमने आज़माया, पर यह नया नुसखा वह है, जो एकवार सोमवती अमा-वस्यापर मैने आज़माया था। गर्मीका मौसम और सोमवतीका स्नान, भला फिर हरद्वार जानेको किसका जी है, जो जाऊँ-जाऊँ न करे और हम तो ठहरे पुरुष, जी पर ज़ब्त भी कर ले, पर श्रीमतीजीको रोकना, तो गगाकी धारको रोकना-टोकना है। खैर साहव, हम पहुँच गये स्टेशन, पर टिकट-घरकी खिडकीपर जो ध्यान गया, तो मच मानिए कुरुक्षेत्रका दृश्य दिखाई दिया—धक्कम-धक्का तो था ही, घमाघसी भी थी और शोर-शराव्वा भी। दूरसे देखो, तो लगता था कि अच्छी-खासी रस्साकशी हो रही है।

सामानके पास वैठाया श्रीमतीजीको और स्वय सरके खिडकीकी तरफ, खिडकीपर पहुँचना तो सम्भव ही न था, इसलिए पासकी दूसरी खिडकीपर जा टिके। वहाँसे वह वावू दिखाई देता था और भीड भी दूर न थी। क्यू लगा हो, तो जल्दी-जल्दी टिकट मिलते है और भीड हो तो देर लगती ही है। लोगोने इस देरीको वावूकी ढील समझा और २-४ उसे गरम

गरम बोल बोले। बस मेरे लिए यही अवसर था कि अपना नया नुसखा पिलाऊँ और आदमी बनकर काम साधूं।

मैंने ऊँची आवाजसे कहा—भाइयो, भीड, तो तुम खुद करते हो और कसूर बताते हो बाबूजीका, यह अजीब बात है। वे बेचारे खाली बैठे सिगरेट तो नही पी रहे, काम ही कर रहे हैं। सुबहसे काममें जुटते है, खडे-खडे पैरोमे खून उतर आता है ज़रा इसपर भी तो ध्यान दो।

मैंने देखा, टिकट बाबूके मनपर मेरी बातका यह असर हुआ कि वे प्रसन्न हुए। तभी मैंने उनकी ओर देखकर कहा—बाबूजी, आप लोगोकी बातका बुरा न माने। बात यह है कि अब सरकार जनताकी है, इसलिए जनताके लोग सरकारी आदमियोको अपने घरका ही आदमी समझते हैं और बाबूजी, अपनोंके लिए तो गुस्सा भी प्यार होता है।

मैंने देखा कि भीडपर भी मेरी बातका अच्छा असर पडा और रेल-पेल जरा कम हो गई।

थोडी देर बाद जरा फिर तेजी आई तो मैंने ऊँची आवाज़में कहा—भाइयो, बाबूजी हवाकी तरह टिकट दे रहे हैं। घबराओ मत, सबको टिकट मिल जायगा और किसीकी गाडी नही छूटेगी।

भीडमें शान्ति आ गई और बाबूजीने मेरी तरफ नरम आँखोंसे देखा तो मैंने उसी खिडकीसे रुपये भीतर डालकर अगुलियोंके इशारेसे दो टिकट माँगे और वे मुझे मिल गये। लोग अब भी ठुके-से खडे थे और मै श्रीमतीजीके साथ भीतर प्लेटफार्मपर आ गया था।

यह है भाईजी, आदमी बननेका नया नुसखा कि बाबूजी भी खुश, जनता भी खुश और हम भी खुश—आमके आम, गुठलीके दाम। भीड भी मान गई कि कोई आदमी है और बाबू जी भी। कहो मानते हो या नही ?"

"मान गये साहब, न माननेकी इसमे गुजायश कहाँ है, पर—"

"पर-वर इसमे कुछ नही, बस पर इतना ही है कि इस नुसखेका अदल-बदलकर पिया-पिलाया जाता है। यह हकीम पन्नालालका वनपशा नही कि हमेशा उसमे बताशे ही डाले जाएँ, इसमे कभी बताशे पडते है, तो कभी मिश्री और कभी गुड।

यो टुकुर-टुकुर क्या घूर रहे हो मुझे ? लो मिश्री, बताशे और गुडका भेद समझाता हूँ तुम्हें। उस दिन प्रदर्शिनी देखने जा रहे थे। स्टेशन आये तो टिकट-घरपर भीड। सोमवतीवाली भीड नही, समझदार भीड—क्यूमे खडी, पर मुसीबत यह कि क्यू इतना लम्बा कि उसमे खडे हो, तो हमारा नम्बर चालीसवाँ। हम सीधे खिडकीके पास पहुँचे और ऊँची आवाजसे क्यू वालोंसे कहा—भाइयो, मै मजबूरीमे आपका नम्बर ले रहा हूँ। ऐसा करना मेरा हक नही है। यह आपकी मेहरबानी है। आपका समय कुछ मुझसे कम कीमती नही है। वे पसीज जाते है और मै वेनम्बर ही टिकट ले, मुसकराता हुआ चला आता हूँ। इस नुसखेका मोल यह नही है कि टिकट मुझे पहले मिल गया, पर यह है कि उन्हे वेवकूफ बनानेपर भी वे मुझे एक आदमी मान लेते है—जी हाँ, एक आदमी।"

"आपके यह टिकट खरीदनेके नुसखे तो सचमुच हकीम पन्नालालके नुसखोंसे भी ज्यादा रामबाण है, पर . .।"

"फिर वही पर, पर-वर इसमे कुछ नही, सिर्फ पर इतना है कि ये नुसखे टिकट खरीदनेके नहीं, आदमी बननेके है। यह बहुत बारीक भेदकी बात है। राजा भोजका समय होता, तो इस भेदकी बातपर सोनेकी सैकडो मोहरे बरस पडती, पर लो, तुम्हे बिना दक्षिणाके ही यह भेद बता रहा हूँ। बात यह है कि हर आदमी दूसरे आदमीको अपनेसे हीन समझता है। अब आवश्यकता यह है कि हमारी बात और काम ऐसे हो कि वह हमे श्रेष्ठ माने। इसका नाम है आदमी बनना, तो अवसर टिकट खरीदनेका हो या

किसी और बातका, खास बात है आदमी बनना, अपनी श्रेष्ठताका सिक्का दूसरेके दिलपर बैठाना। बस, इतना यही और समझ लो कि श्रेष्ठताका यह सिक्का कभी तो बैठता है चरित्रकी ऊँचाईसे और कभी उपयोगितासे। कहो, है न गहरे भेदकी बात ?"

"हाँ, बात तो वाकई गहरे भेदकी है, पर हमारी समझमे यह भेद अभी बैठा नही है। तुम एक-दो अनुभव और सुनाओ, तो काम चले।"

"अनुभव ? अनुभव एक दो नही, एक-सौ सुनो अनुभव भी एक-से-एक और एक-सौ-एकके। अपनी ही बात कहे जाना ठीक नही है, इसलिए आप-बीतीके बाद जगबीतीका भी एक नमूना लो—

ठाकुर शीशमसिहको तो तुम जानते हो ? हाँ, हाँ, वे ही नगलीकलॉ वाले। क्या राय है तुम्हारी उनके बारेमे ? लो, अपने प्रश्नका उत्तर भी मै ही दिये देता हूँ कि बहुत अच्छे आदमी है और यह तुम्हारी—मेरी ही राय नही, सारे इलाकेकी राय है। अब मै पूछता हूँ तुमसे कि क्या उनके चरित्रमे कोई ऐसी ऊँचाई है कि सारी दुनिया उनका मान करे, उन्हे आदमी माने ? आपका जवाब है नही और यही जवाब है मेरा भी, तो बस यह सब आदमी बननेके नुसखोका ही असर है। आपको याद होगा हकीम पन्नालाल बहुत साफ-सुथरे कागजपर नुसखे लिखा करते थे, ठाकुर शीशमसिह भी बहुत सफाईसे नुसखे लिखते है, पर खास बात यह है कि न उसमे होता है चिरायता, न गिलोय, न सौंफ, न अजवायन, उसमे होता है नमस्ते और भवदीय।"

"नुसखेमें नमस्ते और भवदीय होता है ?"

"हाँ जी, नुसखेमे नमस्ते और भवदीय होता है और लो, उलझनेकी कोई बात नही, बात है सिर्फ यह कि १९४२ में एक फरार क्रांतिकारी छिपकर उनके यहाँ रहा था। अब वह पहुँच गया एक ऊँचे पदपर और इनका लिहाज

करता है। उसके कारण इनकी और भी चार बड़े आदमियोंसे जान-पहिचान हो गई है। अब ठाकुर साहब इन्हीं लोगोंके नाम सिफारिशी खत लिखा करते हैं। किसीका मुकदमा हो या परमिट, पासपोर्ट हो या मेम्बरी, बेटेकी नौकरी हो या बेटीका रिश्ता, ठाकुर साहबका खत ले जाइए—वे खत देनेसे कभी इन्कार न करेंगे। बस ठाकुर साहब सबके लिए आदमी बने हुए हैं।"

"तो उनके खतसे सबका काम बन जाता है?"

"भाई जी, मैं बता रहा हूँ तुमको आदमी बननेके नुसखे और तुम बने जा रहे हो चुकन्दर खान। अरे मियाँ, सबके सब काम तो ईश्वर भी नहीं कर सकता, फिर आदमी क्या चीज़ है, सोचो तो! इन पत्रोंमेंसे कुछ तो रद्दीकी टोकरीमें फेंक दिये जाते हैं और पत्र ले जानेवालोंकी बात भी कोई नहीं पूछता, कुछका यह असर होता है कि पत्र लानेवालोंकी बात सुन ली जाती है और उन्हें चलताऊ आश्वासन मिल जाता है—भले ही आगे जाकर नाव डूब जाय, और कुछका काम हो जाता है—शायद पत्र न ले जानेपर भी वह हो जाता, पर रहस्य यह है कि ठाकुर साहबको किसीके काम होने या न होनेसे कोई मतलब ही नहीं, वे तो आदमी इसलिए बन गये हैं कि सबकी बात हमदर्दीसे सुनते हैं और सबकी मददको तैयार रहते हैं। फिर जिन-जिनकी बात कुछ पूछ ली जाती है या जिनका काम हो जाता है, वे तो ठाकुर साहबके चारण हो ही जाते हैं, पर जिनकी बात नहीं पूछी जाती और वे लौटकर शिकायत करते हैं, तो ठाकुर साहब समयका रोना रो देते हैं कि इस आदमी पर इतने ऐहसान किये हैं, पर अब बड़ा आदमी बन गया, तो दिमाग ही नहीं सभलता उससे! ठाकुर साहबका नुसखा कामयाब है या नहीं?"

"वाह साहब वाह, यह तो आपने गज़बकी बात सुनाई।"

"इसमें न कुछ गज़ब है, न अजब, हाँ, बात ज़रूर है और बात भी है नुसखेकी और नुसखा भी कोई ऐसा-वैसा नहीं, आदमी बननेका है। यह

नुसखा बहुत लोग जानते हैं, पर इसे सब अपने-अपने ढगपर बांधते हैं, यही इसकी विशेषता है। हनुमानजी की बगीचीमे जो स्वामीजी रहते हैं, वे इसे एक तीसरे ही रूपमे प्रयोग करते हैं। उनके बारेमे मशहूर है कि अफसरोपर उनका बहुत असर है। बस मुक़दमेवाले उन्हे घेरे रहते हैं और मज़ा यह कि दोनो पक्षवाले उनसे मदद चाहते हैं। वे दोनोको आश्वासन दे देते हैं, पर उन्होने एक बार भी कभी किसीकी सिफारिश नही की—हारनेवाला हार जाता है और जीतनेवाला जीत जाता है।"

"तब तो उनका नुसखा फेल रहा, क्योकि हारनेवाला तो उन्हें गाली देता ही होगा भाई साहब?"

"प्रश्न तुम्हारा ठीक है, पर कतई बे-ठीक है, क्योकि तुम मनोविज्ञान पढे ही नही हो। अरे भाई, जो हार गया, वह दुखसे इतना दब जाता है कि उसे स्वामीजीकी चर्चा करनेकी कहां फुरसत? और जो जीत गया, वह उत्साहमे है, चार जगह मुकदमेकी बात करता है, तो स्वामीजीकी वन्दना हो ही जाती है और यो स्वामीजी आदमी बने रहते हैं आज भी कल भी।

सचाई यह है कि इस मामलेमें तिलकी ओट पहाड है। लो, उठते-उठते तुम्हे अपना ही एक नुसखा पिलाता हूं। जब मैं किसी दूकानसे कोई सामान खरीदता हूं और दूकानदार सामान तोलने लगता है, तो दूसरी तरफ मैं इस तरह मुंह फेर लेता हूं, जैसे मै उसे देख ही नही रहा, पर कनखियोंसे उसे देखता रहता हूं। अब जो उसने नीता तोल दिया, तो ठीक, पूरा तोल दिया, तब भी कोई बात नही, पर डण्डी खिंची देखी, तो कहता हूं—लालाजी, आपके तो हाथही तुले हुए हैं और फिर ज़रा कम ही तुल गया तो क्या है, यहां भी आपका है, वहां भी आपका है और बस मैं देखता हूं कि डण्डी नी गई है। इस तरह सामान भी मुझे पूरा मिल जाता है और मैं दूकानदारकी निगाहमे आदमी भी बन जाता हूं।

अब आया तुम्हारी समझमे नये ज़मानेकी आदमीयतका नुसखा?"

— —

# अजी, होना-हवाना क्या है ?

जीवनमे कभी-कभी कुछ ऐसी घडियाँ भी आती है, जब किसी काममे जी नही लगता। न सिलसिलेसे कुछ सोचनेको जी चाहता है, न पढनेको और न कुछ करनेको। तन चाहे बहुत थका न हो, पर मन थका रहता है।

तन थका हो, तो नींद उसकी अचूक दवा है, पर इन घडियोमे नीद भी नही आती। दिल और दिमागपर मायूसीका अजीब साया-सा पडा रहता है। आमतौरपर ऐसा तब होता है, जब आदमीके सामने कोई ऐसा मसला पेश होता है कि वह उसे हल नही कर पाता और मजबूरी यह होती है कि बिना हल किये बैठा जा नही सकता; तो आदमी इस उधेड-बुनमें कि फिर होगा क्या ? तब वह सोचते-सोचते इतना थक जाता है कि अब सिलसिलेसे सोचना भी उसके बसका नही रहता।

औरोका भी ऐसा हाल होता होगा, क्योंकि यह कोई पेटेन्ट प्रयोग तो है नही कि मेरी ही मिल्कीयत हो और वे इसका कुछ इलाज भी करते होगे, पर मुझे उसकी कोई दवा अभीतक मालूम नही हो सकी। हाँ, एक बात जरूर है कि इन घडियोमे अगर कही किस्मतसे चचा मिल जाएँ, तो पाँच-सात मिनटोमे ही यह मायूसी छूमन्तर हो जाती है और तन-मनका थकान उतर-सा जाता है। तभी तो हम लोग कभी-कभी हँसीमें उन्हे चचा विमटो कहकर, उनके प्रति अपने मनका सम्मान प्रदर्शित किया करते है।

जिन्हे मायूसीका यह दौरा-सा उठता है और कभी-न-कभी यह सभीको उठता होगा, वे सब चाहेंगे कि मै चचाका नुसखा उन्हे बता दूं और वे भी केमिस्ट किचनर या गोविन्द अत्तारसे मँगाकर उससे फ़ायदा उठाये, पर बला



१६

दूं क्या खाक! चचा न डाक्टर है, न हकीम, न वैद्य। यहाँतक कि वे झाड-फूंक करनेवाले ओझा भी नही कि उनका ताबीज ही भिजवा दूं।

"फिर क्या है वे?"

यह एक मुनासिब सवाल है। चचा अलताफुर्रहमान एक उर्दू अखबारके ऐडीटर है। उम्र कोई साठ साल होगी। हमारे शहरमे अगर आप देखे कि पानोंसे मसूड़ें रँगे, एक पुराने अचकनसे तन ढके, सफेद बालोको मेंहदीसे लाल किये और टूटे फ्रेमके सफेद चश्मेसे झाँकती आँखोको बरेलीके सुरमेसे आँजे, अपनी पुरानी तुर्की टोपीको जरा-सा बाँकपन दिये, एक बूढे मियाँ कही अपनी छडीको टेकते चले जा रहे है, तो समझ लीजिए कि वे हमारे चचा है और बस बिना तकल्लुफ आप उनसे बाते कीजिए, चाहे तो उनका नुसखा भी पूछिए। शरमाने या सकुचानेकी जरूरत नही, क्योकि हमारे साथ ही वे आपके भी तो चचा है!

"जी, हमारे चचा कैसे? हमसे तो उन बिचारोकी कभी दीद-शनीद भी नही हुई?"

ठीक है, आप यह कह सकते है और मुझपर नाराज भी हो सकते है, पर असलमे नाराजीकी कोई बात नही। मेरे पिता जी उन्हें चचा कहा करते थे, मेरे चचा तो वे है ही और मेरे बच्चे भी उन्हे चचा कहा करते है। असलमें वे जगत चचा है और आप भी है इस जगत्के ही निवासी, लिहाजा इस हुलियेसे उन्हे पहचानकर आप उन्हे अपना भी चचा मान सकते है और उनसे मायूसी दूर करनेका नुस्खा पूछ सकते है।

और कहा तो मैंने अभी आपसे कि वे एडीटर है, हकीम-वकीम नही। फिर भी मेरा हवाला देकर आप उनसे नुस्खा पूछ सकते है। जानते है आप, वे क्या कहेगे? सुनते ही जोरसे कहकहा लगाएँगे, दो-चार इधर-उधरकी बाते सुनाएँगे और अन्तमे कहेगे—"यह है तुम्हारा मसला?

हुँ, पिद्दी न पिद्दीका शोरबा, सिर्फ सायेका भूत है मियाँ, सायेका भूत; इसमे होना हवाना क्या है ?" लीजिए आपसे छिपाना क्या है, बस यही उनका नुस्खा है।

बात यह है कि चचाकी इन बातोमे कुछ ऐसा असर होता है कि मन बदल जाता है, बदल क्या बस बहल जाता है और एक ऐसी ताजगी मनमें उभरती है कि सामनेके झमेलेमे लडनेकी ताकत मिल जाती है।

मान लीजिए आप किसी मसलेसे परेशान है और चचा आ गये। आपने उनसे कहा—"चचा, मेरा तो दिल बुझा जा रहा है, आखिर क्या होगा इस मामलेमें।" तो वे पहले जरा मुसकराएँगे और तब कहेंगे—"अरे भाई, इसमे होना-हवाना क्या है, दिलका दिया बुझा जा रहा है, तो उठकर उसमे तेल डालो, यानी कुछ पियो!"

"क्या पिये चचा ?" आप पूछ बैठें, तो वे फिर मुसकराएँगे और तब इस तरह कहेगे जैसे कोई बडी गम्भीर बात कह रहे हैं—"अरे भाई पिये क्या, वही तीन तोले अफीम और तीन छटाँक तेल, बस मामला साफ!"

इसके बाद बच्चोकी तरह मुँह बनाकर खिसियाएँगे और फरमाएँगे—"वाह साहब, इस दुनियामें इतनी पीनेकी चीजे है कि सिर्फ उर्दूमे ही उनके नाम लिख दूँ, तो मेरा अखबार भर जाए—क्या समझे जनाब, पूरे चार पेज और आप पूछ रहे है कि क्या पिये चचा ? अरे साहब, तन्दुरुस्तीके लिए पीनेको गगा-जमनाके इलाकेमे दूध और मारवाडमे प्यास बुझानेको पानी मिले या न मिले, मायूसी दूर करनेकी दवाका इन्तजाम हुकूमतने हर जगह कर रक्खा है और वह अगर कही चूक भी गई है, तो हमारे पण्डे-पुजारियोने अपने-अपने मन्दिरोमे कुँडी-सोटेका प्रबन्ध करके उस कमीको पूरा कर दिया है। इसपर भी आपकी आँखें नही खुलती, तो भला हो इन कम्पनीवालोंका। बेचारोने छोटी-छोटी गलियोकी दुकानोंतकपर चायकी पुडियें भेज दी है।

एक प्याला गलेसे उतारो कि खुमार आये और बस मायूसी वन टू थ्री। अब बैठो किसी हँसमुखके साथ और दो-चार मिनट जोड़ो गप्पे, बस दिल और दिमाग ताजा। अब आप चाहे कुछ लिखिए-पढिए, बाजारसे घरका सामान लाइए या जिस मसलेमे उलझे है, उसे सुलझानेको निकल पढिए। बाहर-भीतरकी इस ताजगीमे आप उल्टे-सीधे चार हाथ मारेंगे, मामला सुलझ जाएगा और होना-हवाना क्या है ?"

यह है चचा बिमटोका वह नुस्खा, जो मायूसी और परेशानीपर कभी बेकार नही जाता। मे बरसो यह समझता रहा कि चचा हँस-हँसाकर आदमीका दिल बहला देते है, पर उस दिन मैने जाना कि चचाका नुस्खा, तो अपनेमे जिन्दगीकी एक फिलासफी लिये हुए है।

"ओ हो, तो आपको अपने चचाके इस नुस्खेमे जिन्दगीकी एक फिलासफी भी दिखाई दे गई ? सच यह है भाई साहब, कि हर लेखक कुछ न कुछ पागल होता है और इस समय तो आप सचमुच आगरेकी एक खास बिल्डिगके चारो तरफ ही घूम रहे है।"

जी हाँ, आगरेकी बिल्डिगके बाहर ही नही, मुमकिन है मै उसके भीतर ही घूम रहा होऊँ, पर मेरा विश्वास है कि पूरी बात सुनकर आप भी यह मान लेंगे कि हमारे चचा एक जिन्दादिल इन्सान ही नही, पूरे दार्शनिक—फिलासफर है और दार्शनिक भी जीवनके, यानी कोरे सिद्धान्ती नही, एक अमली आदमी।

"अच्छा, तो सुनाइए फिर अपने चचाकी जीवन-फिलासफी हमे भी जरा। मुमकिन है उसमेसे कुछ हमारे हाथ-पल्ले भी पड जाय, वैसे तो आप जानते ही है कि हम अपने मुल्कके एक मशहूर कूडमग्ज आदमी है।"

तो लीजिए, सुनिए, चचाकी जीवन-फिलासफी। बात यह हुई कि हमारे

दफ्तरके वडे साहव हमसे नाराज़ हो गये और उन्होंने हमसे ऐसा कसकर जवाव तलव किया कि सवने मान लिया कि अव हमारा पत्ता कटा। अच्छी तनख्वाह, शानदार काम, छूटा-सो-छूटा, फिर कहाँ मिलता है ? हम परेशान हो गये और दिमागकी हालत वही हो गई कि यो तो सारे दिन सोच ही सोच, पर कोई पूछे कि भई, क्या सोच रहे हो, तो हम इस तरह चौंके कि जैसे दूसरेकी थैलीमें हाथ दिये पकडे गये !

किस्मतकी वात कि कहींसे घूमते-घामते आ निकले चचा और हमे देखा जो गुमसुम, तो दूरसे ही तनतनाकर वोले—"कहो साहवज़ादे, किस गलीमे पिट आये आज ?"

पहले तो हमें वुरा लगा कि वाह साहव, हमारी तो वन रही है जानको और इन्हे सूझी है फुलझडी छोडनेकी, फिर फौरन ही हम सम्भल गये कि ये तो चचा है और चचाको न उतरा हुआ चेहरा पसन्द है, न चढा हुआ। वे अक्सर कहा करते है कि भाई, चेहरा कोई सिगनल नही है कि उसे इस तरह ताने रखो कि देखते ही हँसी-खुशीकी रेल फौरन थम जाये और न वो कोई गुव्वारा ही है कि हमेशा इस तरह फूला रहे कि मालूम हो पीली हसीन वरोंसे आपकी मुहव्वत अभी शुरू हुई है। अरे मियाँ, चेहरा है चाँद, चेहरा है गुलाव कि जव देखो खिला रहे, महकता रहे, चमकता रहे।

तो हम पी गये अपना ताव और धीमेसे हमने अपना मामला चचाको सुनाकर उनसे पूछा कि अव होगा क्या ? हँसकर चचा वोले—"होगा क्या, होगा क्या, होगा क्या ! अरे, होना-हवाना क्या है इसमें, तुम्हारा अफसर तुम्हारे जवावसे, तुम्हारी खुशामदसे, तुम्हारी सिफारिशसे मान गया, तो मामला ज्योका त्यो, नहीं तो ३१ तारीखको महीने भरकी तनख्वाह और गेट आउटका परवाना दोनो एक साथ मिल जाएँगे। फिर चाहे आप आलू-छोले वेचें और चाहे मूँगफली, पूरी आज़ादी है।"

दुखी तो हम पडे ही थे, चचाकी बातसे हमें गुस्सा भी आगया और तुनककर हमने कहा—"होना-हवाना क्या है, होना-हवाना क्या है, बस इस बकवादके सिवा आपको कुछ और भी आता है चचा?"

बात हमारी गरम थी, मगर चचाने और भी नरम होकर कहा—"इस बकवादकी गहराईको समझनेके लिए अरस्तू और पतजलीके खोपडेकी जरूरत है, तुम इसे क्या समझोगे मेरे लाडले मीण्डक, मगर आज तुम्हे भी मे इसे न समझा दूं, तो तुम भी मुझे क्या चचा कहोगे।

लो सुनो, यह होना-हवाना क्या है, राधेश्याम कथावाचकके परिवर्त्तन नाटककी गोल्डन पिल्स है, जो सब बीमारियोका इकला इलाज है और यहाँतक कि कोई तुम जैसा लायक भतीजा अपने हम जैसे चचाको बिना पासपोर्टके ही सातवे आसमानपर भेजना चाहे, तो उसके लिए भी यह रामबाण है।

रामके बाणने रावणको मारकर भारतके इतिहासमे एक नया मोड पैदा किया था और हमारी इस गोलीने भी भारतको एक नया मोड दिया, यह शायद आपको पता नही। औरगजेब अगर 'होना-हवाना क्या है' की गोली न खाता, तो दिल्लीके इतिहासमे औरगजेबकी सिर्फ़ इतनी ही चर्चा होती कि समूगढके मैदानसे उसका सिर काटकर शाहजहाँके सामने दरबारमे पेश किया गया और उन्होने हुक्म दिया कि इसे ठोकरोमे लुढकनेके लिए चाँदनी चौकमे फेक दो।"

"यह किस तरह चचा?" हमने पूछा, तो बोले—"हाँ, अब आये है राहपर!" और तब कहने लगे—"औरगजेब दक्खिनकी लडाइयाँ जीतकर दिल्लीकी गद्दी अपने बापसे छीनने चला, तो समूगढके मैदानमे उसकी टक्कर शाही फौजोसे हुई। उधर औरगजेब अपनी तीस हजार फौजो के साथ और इधर बडा भाई दारा ६० हजार शाही फौजोके साथ। कहाँ

तीस, कहाँ साठ! औरंगज़ेब अपने हाथीपर चढा अपनी फौजके बीचो-बीच खडा था कि राजपूत उसपर टूट पडे और उसके हाथीके चारो तरफ जो पठान सिपाही थे उनमे भगदड पड गई।

दाराने दूरसे यह देखा और यह सोचकर कि बस लडाईके फैसलेका वक्त आ गया है, अपना हाथी मोर्चेकी तरफ हूल दिया, पर दारा आराममें पला राजकुमार और औरंगजेब लडाइयोंके मोर्चोपर पनपा सिपाही। दारा धूप और प्याससे बेहाल होकर कुछ मिनटोंके लिए एक हल्केसे सायेमें ठहरकर आराम करने लगा, पर ठीक इसी मौकेपर खतरेको सामने आया देख औरंगज़ेबके हाथीवानने पूछा—"अब क्या होगा हुज़ूर ?"

औरंगजेबने कडककर कहा—"होना-हवाना क्या है जी! फौरन हाथीके पैरोंमें साँकल डाल दो, जिससे यह अगुल भर भी इधर-उधर न सरक सके !"

हाथीवानने हुक्मकी तामील की और बस इतनी देरमें तख्ता उलट गया। भागे हुए पठान सिपाही लौट आये और राजपूत सिपाही घिर गये। फतह औरंगज़ेबके हाथो रही और दारा दिल्लीकी तरफ भागता नज़र आया।

कहिये, इसी गोलीने भारतके इतिहासको यह नया मोड दिया या नही ? और आप जब देखते हैं, हमारी इस गोलीका मज़ाक उडाते हैं और इसे बकवाद बताते है। इस गोलीका पहला असर यह है कि आदमीके दिलमें भरोसा होता है, बेफिकरी आती है और कोशिशोंके लिए उसके हाथ-पैर खुल जाते है।"

लेकिन चचा, एक निराश-नाउम्मीद आदमी भी तो यही सोचता है कि अब होना-हवाना क्या है ? हमने बीचमे टोककर पूछा, तो बोले—

"ठीक है निराश आदमी भी यही सोचता है कि अब होना-हवाना क्या है और कोशिशे बन्द कर बैठ जाता है, पर इसमे मेरी गोलीका क्या कुसूर कि लोग उसे गलत इस्तेमाल करे। फिर भी गोली कुछ न कुछ अपना काम करती है और ऐसे लोगोको भी तसल्लीसे बैठा देती है, उनकी बेचैनी कम कर देती है, वरना वे जाने कबतक तडपते और स्यापे लेते।"

जरा रुककर बोले—"लीजिए, इस बारेमे एक खास बात बताऊँ कि मेरी यह बात बेफिकरीकी एक दवा ही नही है, धर्मका सार भी है।"

वाह चचा, वाह, यह एक ही रही, पर यह तो बताइये कि आप जैसे नास्तिकको यह धर्म-कर्म कबसे सूझने लगा? हमारा यह प्रश्न सुना, तो चचा बोले—"हम हजार नास्तिक हो, हमें धर्मवालोकी बस एक यही बात पसन्द है कि उनका पक्का ईमान-विश्वास इस बातमे है कि होना-हवाना क्या है?

एहसान नाख़ुदाका उठाये मेरी बला।
कश्ती ख़ुदा पै छोड़ दूं लगरको तोड दूं।

अरे डूबेगी, डूब जाएगी, पार होगी, हो जाएगी। पार करेगा तो ईश्वर, डुबाएगा तो ईश्वर और वह जो कुछ करता है भला ही करता है—उसकी इच्छा पूरन हो।

सो भैया, चाहे आप पण्डत गरुडधजकी तरह ईश्वरभक्त हो, चाहे चचाकी तरह सफाचट्ट, पर "होगा क्या, होगा क्या" के चनकारसे निकलिये और घुडघुडी लेकर खडे हो जाइये, साथ ही पूरी ताकतसे एक बार सोचिये कि भई, खामखाँ हम परेशान क्यो हो, आखिर होना-हवाना क्या है?

और लो सुनो, आपने उस दिन हमें चायके साथ गरम पकौडियाँ खिलाई थी, उसका एहसान हमारे सिर है, सो आपको बिना फीस लिये एक मशवरा

देकर उसे उतार देते है, क्योंकि एहसानफरामोशी—कृतघ्नता—बहुत बडा पाप है।"

चचाकी यह बात, सुनी तो हम खिसक कर उनके पास हो गये कि जाने वे बडे साहबके बारेमे ही कोई कामकी बात न कह दे और कहा—हाँ, तो दीजिए फिर मशवरा, पर चचा, रामबाण हो कि बडा साहब धम्मसे नीचे आ गिरे।

"बडा साहब ? अरे भाई, वो पाँचफुटा है क्या चीज़, आपका सारा दफ्तर धडामसे नीचे आ गिरे, अगर आप हमारे मशविरेपर कान दे।" चचाने गम्भीरतासे कहा और तब बोले—"आप गीदडगुरुके चेले हो जाएँ और उसका गुरुमन्त्र गलेमे नही, दिलमे उतार ले। बस, मामला आपो आप मुट्ठीमे आ जाएगा !"

गीदडगुरुका चेला, कौन गीदड गुरु ? सवाल सुना, तो चचा बोले—"अरे आप गीदड गुरुको भी नही जानते, तभी तो बडे साहबसे डरे यहाँ पडे है तकियेमे सिर दिये, वरना एक साहब क्या, आप दोको यों फिरकी बना दें। अच्छा, तो फिर सुनिये गीदडगुरुकी कहानी—

गीदडने जगलमे देखा कि एक हाथी मरा पडा है। उसने दांत मारे, पजे चलाये, पर हाथीकी खाल थी, उसका दाव न बैठा। स्वादिष्ट भोजनका भण्डारा सामने, मगर यह कुण्डी कैसे खुले ?

उधरसे आ निकला एक शेर। गीदडने उससे कहा—"मामा, मैंने तुम्हारे लिए यह हाथी मारा है, लो आओ भोग लगाओ।"

शेरने कहा—"बेटे, मै दूसरेका शिकार नही खाता, मेरा प्रसाद समझ कर तुम्ही आनन्द करो।"

गीदडका वार खाली गया, पर तभी उधरसे आ निकला एक चीता। गीदडने कहा—"यह हाथी बडे मामाने मारा है छोटे मामा, और पहरेपर

मुझे बेठा, नहाने गये है वे, पर तुम वहुत भूखे मालूम होते हो, इसलिए एक तरफसे थोडा-सा तुम खा लो। मै दूर बैठा देख रहा हूँ, मामा आते दिखाई देगे, तो तुम्हे कह दूँगा, तुम भाग जाना।"

चीता लोभमे आगया, पर अपने मजबूत पजोमे हाथीकी खालको चीर, वह मुँह मारनेको ही था कि गीदडने दौडकर कहा—"भागो, मामा आ रहे है।"

चीता भाग गया और यो गीदडने कई दिन खूब भोग लगाया। ये है गीदडगुरु और यह है उनका गुरुमन्त्र! कुछ समझे? अरे भाई, समझना इसमे क्या है, वस जिसके हाथमे आपके मसलेकी वागडोर है, उसे चारो तरफ अ को आ से और आ को इ से इस तरह तोप दो कि वह आपसे वाहर न जा सके।

वस फिर आप भी मेरी फिलासफीके कायल हो जायँगे और कोई आपसे अगर पूछेगा कि भाई, आपके वारेमे अव क्या होगा, तो आप चटासे कहेगे—अजी, इसमे होना-हवाना क्या है?

अव भी समझमे कुछ कसर रह गई हो, तो यो समझ लीजिये कि मेरी फिलासफीका सार यह है कि कोई मसला इतना वडा नही होता कि हल न हो सके, और सच तो यह है कि हर मसलेके साथ ही उसका हल भी रहता है, पर मुसीवत तो यह है कि हम मशलेके भयसे इतने डर जाते है कि उसे न खुलनेवाली गाँठ समझ लेते है। होना-हवाना क्या है कि, फिलासफी की घोषणा है कि कोशिश करनेसे पहले ही उसकी कामयावी तै है, तो मत लीजिये नाकामयावीका मनहूस नाम और समझ लीजिए कि हर ममला हल होनेके लिए है!

# अधूरा कभी नहीं, पूरा और पूरी तरह !

जहाँतक याद है यह ईगुलकी बात है। उस वर्ष वहाँ गान्धी-सेवा-संघका वार्षिक सम्मेलन था और गान्धीजी भी उसमे पधारे थे। वहाँ उन्होने जो भाषण दिया, उसका आरम्भ उन्होने कुछ इस तरह किया—

अभी मै अपने ठहरनेके स्थानसे जब यहाँ चला आ रहा था, तो मैंने देखा कि एक अध्यापक महोदय कुछ बालकोको तकली चलाना सिखा रहे थे, पर उनका तकली चलानेका तरीका स्वय ही शुद्ध नही था। भूल यह थी कि वे पहले पूरा धागा खीच लेते थे और तब उसे ऐंठ देते थे। यह बडी भारी भूल है।

एक साधकने पूछा—पूरा धागा खीचकर फिर उसे ऐंठनेमे क्या भूल है बापू ?

जवाब मिला—पूरा धागा खीचनेपर किसी कामसे बिना उसे ऐंठ दिये कातनेवालेको उठना पड जाय, तो उस कच्चे सूतके खराब होनेका तो भय है ही, पर सबसे बडी बात तो यह है कि आपका एक काम अधूरा रह गया।

और बस अपने स्वभावके अनुसार यही गान्धीजी तकलीके सूत्रसे जीवनके सूत्रमे उतर आये और बोले—पता नही मनुष्यके पास मृत्यु कब आ पहुँचे, इस लिए उसे इस तरह जीना चाहिए कि जब भी वह ससारसे जाए, उसका हरेक काम अपनी जगह पूरा हो और किसी दूसरेको उसका काम पूरा करनेमे नही, उसके कामको आगे बढानेमे ही हाथ लगाना पडे।

ईगुलकी यह बातचीत जब-जब मेरे ध्यानमें आई है, मैंने सोचा है—

गान्धीजी जीवनकी हर बातको कितनी गहराईसे सोचते थे और जीवनके हर क्षणको कितनी गम्भीरतासे लेते थे।

और जब भी कभी मै यह सोचता हू कि वे जिस दिन स्वय इस ससारसे गये, अपना वह दिन उन्होने ३ बजकर २७ मिनटपर आरम्भ किया था और जवाबके लिए बीचमे पडी चिट्ठियोका जवाब उन्होने लिखाया था, तो एक तडफन मेरे प्राणोमे कौन्ध-कौन्ध उठती है कि क्या वे जानते थे कि मै आज जा रहा हूँ और इसी लिए उन्होने अपने कई अधूरे काम उस दिन पूरे कर दिये थे।।

तो जीवनका यह सूत्र बना कि जो काम करो, पूरा करो—एकको बीचमे अधूरा छोड, दूसरेका आरम्भ और दूसरेको अधूरा छोड, तीसरेका आरम्भ, यह काम करनेका कोई अच्छा तरीका नही है।

लोकजीवनमे इस सत्यको एक कहावतमे यो कहा गया है—'आगे दौड, पीछे चौड।'

इतिहासमे भी ऐसे वीरोकी कथाएँ सुरक्षित है, जो जीतते गये और बढते गये, पर जब आखिरी किनारेपर पहुँचे, तो उन्होने देखा कि उनके गलेमे विजयका हार नही, गुलामीका तौक पडा है और उनके हाथोमे विजित देशोके विजय-पत्र नही, हथकडियाँ डाली जा रही है। क्यो ? क्योकि वे जीते देशोकी व्यवस्थाका अधूरा काम छोडकर आगे बढ गये।

मै जीवनकी सरल बात कहने बैठा था, पर लगता है कि कुछ बोझल हो चला हूँ, तो आइए अपने मित्र श्री खन्ना और उनकी पत्नी श्रीमती खन्नासे आपका परिचय कराऊँ। श्री खन्ना एक ईमानदार, परिश्रमी और भले राज्य कर्मचारी, तो श्रीमती खन्ना एक सुरुचि-सम्पन्न, सहृदय गृहिणी। एक मध्यम श्रेणीका छोटा-सा परिवार, पर इतना व्यवस्थित कि देखे, तो देखते ही रह जाएँ—हँसीमे मित्र लोग कहते है—"श्रीमती खन्ना झाडूसे

नही बुहारती, जीभसे फर्श चाटती है।" वे अपना घर ऐसा रखती हैं कि जैसे यह म्यूजियम हो और इसकी चीजे बरती न जाती हो, बस देखनेके लिए सजी ही रहती हो।

एक दिन पूछा—"इस व्यवस्थाका रहस्य क्या है ?"

श्रीमती खन्ना बोली—"जो चीज जहाँकी है, उसे वही रखनेकी आदत।" और तब उन्होने एक ताजा सस्मरण सुनाया—"रात खन्ना साहब एक बजे आये। उनके साथ सामान भी था। आते ही उन्होने कपडे निकाले, बदले और बिस्तरबन्द खोलकर जूता जूतेके स्टैण्डपर रक्खा, चप्पल पलगके पास, बिस्तरा भीतरकी चौकीपर पहुँचाया, मैंने कपडे डोलीमें डाले, होल्डाल तह करके उसकी जगह रक्खा, फलोकी टोकरी रसोईमें रख आये, थर्मस खूँटीपर टाँग दिया, ट्रक भीतरके कमरेमे रक्खा, छतरी कोनेमें और यो ढाई बजे सोये।"

हम जब सुबह सोकर उठे, तो घर ज्योका त्यो था। दूसरे लोग ऐसे मौकेपर यह फेका इधर, तो वह मारा उधर और कुछ पलगके नीचे, तो कुछ चारो ओर, गरज़ यह कि घरको ऐसा कर देते हैं, जैसे यहाँसे अभी-अभी राजस्थानी लुहारोका काफिला उठा हो।"

वे बोली—"बस यही हमारी व्यवस्थाका रहस्य है।"

मैंने कहा—"ठीक है, आप लोग खादी न पहननेपर भी इस मामलेमे गान्धीजीके पक्के शिष्य है, कभी अधूरा काम नही करते।" और तब मैंने उन्हे गान्धीजीका वह ईंगुलवाला सस्मरण सुनाया।

खन्ना परिवारके विरुद्ध है मेरा एक आत्मीय और उसकी वहू रानी। दोनो सुन्दर है, पर घरका सौन्दर्य दोनोको पसन्द नही—उनका घर देखकर ऐसा लगता है कि वे आज ही इस घरमें आये है और उनका सामान किसी दूसरे घरसे लाकर अभी यहाँ रक्खा गया है—यहाँ यह पडा है, तो वहाँ

वह। कभी-कभी मैं उसे व्यवस्थित करा देता हूँ, पर यह रेतेका राजमहल उसी दिनसे छीजने लगता है और दो-तीन दिनमें ही फिर अपना स्वरूप ले लेता है।

क्या उसके पास जगहकी कमी है? ना, यह स्वभावकी बनावट है, जिसे मैं मानसिक दरिद्रता कहा करता हूँ।

विकास प्रेसके बरामदेका पार्टीशन करके बनाई गई मेरी अपनी कोठरी है—नौ बालिश्त चौड़ी, नौ बालिश्त लम्बी। इसमे मेरा पुस्तकालय है, कार्यालय है, पूजा-मन्दिर है, शयन-कक्ष है, बैठक है, स्टोर है और भी बहुत कुछ है। समाजके अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिक, जो धनपति हैं, ऊँचे राज्य कर्मचारी हैं, मिनिस्टर-डिप्टी-मिनिस्टर हैं और बड़े-बड़े भवनोमे रहते हैं, अक्सर इस कोठरीमें आतिथ्य गहण करते रहे हैं। मैंने बार-बार देखा है कि वे आकर पहले भौचक हो इस कोठरीमे चारो ओर आँखें घुमाते है और तब कहते हैं कि वाह साहब, यह आपकी कोठरी तो खूब है। मैं स्वय अपनी कोठरीपर गर्व करता हूँ कि उसमे एक पूरा जीवन है, वातावरण है, व्यवस्था है, सौन्दर्य है।

मैं जानता हूँ कि आपका घर भी अव्यवस्थित रहता है और आप चाहते हैं कि वह सभ्रा परिवार या मेरी कोठरीकी तरह व्यवस्थित रहे, तो अधूरा काम करनेकी बुरी आदत छोड़िए और पूरा काम करनेकी अच्छी आदत डालिए।

अधूरे या पूरे कामका घरकी व्यवस्यासे भला क्या सम्बन्ध? आपके मनमें यह प्रश्न पूरे जोरसे उमड रहा है, पर इसका बडा गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि अधूरे काम ही घरकी व्यवस्याको खराब करते हैं।

यह कैसे? इस तरह कि आपका घर इस समय पूरी तरह व्यवस्थित है, हर चीज़ अपनी जगहपर रक्खी खिल रही है और आपने यह निश्चय भी

कर लिया है कि इसे ऐसा ही रक्खेंगे, अब आप कपडोके दराजमेमे एक वनयान निकालते हैं। वह कही कपडोमे रक्खा गया है, मिलता नही। आप ७-४ कपडे निकालकर कुरमीपर रख देते है और वनयान लेकर वाहरके कमरेमे आ जाते हैं। वस सारी व्यवस्था समाप्त समझिए, क्योंकि आपने अधूरा काम किया और कपडोको ज्योका त्यो नही रक्खा।

आपके वाद आपका पुत्र आ गया और वह अपने स्थानपर रक्खी उस कुर्सीको खीच, ऊपरके ताकमे रक्खा अपना खेल उतारकर कुरसीको वही छोड जायगा। तव दर्शन देगी उसकी माताजी और वे कपडोकी मरम्मत करके, कैंचीसे कटी कतरने और सुई-तागेका डव्वा वीचमे छोड जाएँगी और वस आजका सूरज डूवनेमे पहले ही आपका घर कवाडीकी दुकान वन जाएगा।

है अधूरा काम घरकी व्यवस्थाका दुश्मन ?

दूरके नगरमे मेरे एक मित्र रहते है। तीन-चार माल वाद मैं गया, तो देखा कि एक छोटा-सा दुमजिला मकान उन्होने वना लिया है। नया मकान, नया फरनीचर, नई कितावे, पर दरवाजेकी तरफ वाली दीवार पर पानीके डोरे खिचे हुए, जिससे कमरेमे एक भद्दापन छाया हुआ।

पूछा—यह पानी कहाँसे आया है, तो वोले—"ये पैंडके दो छेद वन्द होनेसे रह गये, वरसातमे पिछवाड आजाती है।"

वही अधूरा काम कि मकान वने दो साल हो गये, पर पैंड वाँधनेके लिए वने छेद रह गये, जिन्हे वन्द करनेका काम सिर्फ दस मिनटका था। अव चार ईंट, आधसेर सीमेण्ट, दस मिनटके लिए मिस्त्री और सीढी, यह सव हो, तो वे छेद वन्द हो, इसलिए दस मिनटकी वह अपूर्णता जाने कवतक पूर्ण हो !

इसमे भी एक छोटी वात लीजिए। आपने अपने कमरेमे झाडू लगाई,

# दुनिया दुखोंका घर है !

बात आजकी है एकदम ताजी, पर बात पुरानी है, बहुत पुरानी और शायद उस बरगदके पेडसे भी पुरानी, जो दक्षेश्वर महादेवके मन्दिरमें खडा है। जाने कबसे खडा है, यो ही यह बरगदका पेड—वटका वृक्ष। मेरे बाबा कहते है कि वे बालक थे, तो यह पेड यही इसी तरह खडा था और वे उसके नीचे दूसरे बालकोके साथ आँखमिचौनी और दाई-दुक्का खेला करते थे।

लगभग ८० वर्षके है मेरे बाबा, तो यहाँ खडे-ही-खडे इस बडके पेडने एक पूरी सदीका इतिहास अपनी आँखो देखा है। कितना विशाल, कितना बूढा, कितना पुराना है यह बडका पेड, पर जो बात मै आपको सुनाना चाहता हूँ, वह इतनी पुरानी है कि उसका अता-पता इस बूढे बडसे पूछो, तो यह बगले झाँकने लगे और अन्तमे खिसियाना-सा कहे कि भाई, जब मै छोटा-सा बालक था, तब भी बडे बूढे यह बात आपसमे यो ही कहा करते थे, जैसे आज तुम लोग कहते हो।

तो मतलब यह कि बूढे बडसे भी बूढ़ी है यह बात, जो मै आपको सुना रहा हूँ। बुढापेमे आदमी ही नही हाथी घसक जाता है और उसमे खुली ताजगी नही रहती, पर जो बात मै आपको सुना रहा हूँ, वह इतनी बूढी है, फिर भी गजबकी तेजी और ताजगी है उसमे और ताजगी भी क्या कोई ऐसी-वैसी, वह तितली-सी सारे देशमे उडी फिरा करती है। जब मै कहता हूँ कि उडी फिरती है, तो आप यह न समझे कि वह कोई अप्सरा है, जो इधर-से उधर उडी फिरे, जी नही वह लोकके कटका हार है।

"ओ हो, जाने क्या कहे जा रहे है आप। मान लिया कि जो बात हमे आप सुनानेवाले है, वह बहुत पुरानी है, सारे देशमें उसका प्रचार है,

पर भले आदमी, भूमिका बाँधे जा रहे हो, आखिर वह बात भी तो सुनाओ कि क्या है?"

ऊँ हूँ, तुम बोले भी तो यह बोले। बातके बीचमे टमकना ही था, तो कोई कामकी बात कहते। वाह जी, वाह, कहा भी तो क्या कहा कि हम भूमिका बाँध रहे है, जैसे भूमिका बाँधना कोई मामूली बात हो। भाई साहब, भूमिका बाँधनेका मतलब है, हवा बाँधना और जिसने हवा बाँध दी, उसके लिए सफलता ऐसी कि जैसे आप सडकपर पडी-पाई इकन्नी चुपकेसे उठाकर अटीमे लगा ले। भूमिका बाँधना, यानी हवा बाँधना ऐसा महत्त्वपूर्ण न होता, तो क्या ससारके महान् शासको और कर्णधारोकी खोपडी कोई खोखली हो गई है कि वे हवा बाँधने वालोकी जेबमे बैठे फिरा करते है।

"ससारके शासक और कर्णधार हवा बाँधनेवालोकी जेबमें बैठे फिरा करते है, यह क्या कह रहे है आप?"

अजी भाई साहब, मै जो कुछ कह रहा हूँ वो तो एक और एक दोकी तरह बिलकुल साफ है, पर तुम्हारी अक्लका द्वार ज़रा ऐसा तग है कि उसमे कोई बात ऐसी ही मुश्किलसे बैठती है, जैसे मोटी स्त्रीके हाथमे बुल्लन मियाँकी छोटी चूडी। खैर, कुछ भी हो, मुझे तो यह चूडी बैठानी ही है, तो मै आपसे पूछता हूँ कि हिटलर जो सारी उम्र प्रचार मत्री गोयबेल्सको अपना सगा भतीजा बनाये रहा, उसका यही रहस्य था महाराज! अच्छा तो अब तुम मेरी वह बात सुनो, जो दक्षके मन्दिरमे खडे उस बरगदके पेडसे भी पुरानी है और फिर भी देशके घर-घरमे फैली हुई है।

आज तो नन्हे और मुल्लनका बेटा भीद्दू और बुडकल्ला भी जब अपने लिए दुलहन देखने जाता है, तो पूछता है—नाचना जानती हो? और इस प्रश्नके उत्तरमें यदि वह सकुचाई-सिकुडी किशोरी कहे कि 'हाँ' तो वह कुछ इस तरह मुसकराहटके साथ सिर हिलाता है कि जैसे वह भरतके नाट्य-

शास्त्रपर ही थिसिस लिखकर डी० फिल० हुआ हो। साथ ही यदि कानोंमें पडे 'ना' तो वह सम्पूर्ण गम्भीरताके साथ कुछ इस तरह भौहोंको सिकोड-कर माथेपर बरसाती नदीके कगार-से खडे कर लेता है कि जैसे उसने दुल-हनके सम्बन्धमे हो रही जाँच-पडतालके सामने ऊँची दीवारे ही खडी कर दी हो।

साथ ही पलौथीसे इस तरह उकडूं हो जाता है कि बिना ना किये ही लडकीवालोके लिए उसकी विदाईका ऐलान हो जाता है। यह आज की दशाका एक चित्र है, पर मै तो उन दिनोकी बात कह रहा हूँ, जब नृत्य और गानमे निपुणता कन्यामे बिना जाँचे उसी तरह अनिवार्य समझी जाती थी, जिस तरह आजकल भोजन बनाना। यही कारण है कि उन दिनो वरके लिए वधूकी खोज करते समय नाचने-गानेकी जाँच-पडताल न करके परिवारके लोग वशके गुण-दोष देखा करते थे।

वहू जिस दिन पतिके घर आती, उस दिन रात भर मुहल्ले पडौसकी कोई कन्या और वहू न सोती और रातभर नृत्य और गानकी धूम मची रहती। यह एक तरहसे वहूकी परीक्षाका उत्सव होता, क्योकि इसमे नगर और परिवारकी पुरानी वहुएँ और कन्याएँ जहाँ अपनी कलाका प्रद-र्शन करती, वहाँ वहूको भी अपनी कलाका पूरा प्रदर्शन देना पडता। इस तरह दोनो एक दूसरेकी आँखोमे तुल जाते। उस उत्सव-रात्रिको लोककी भाषामे कहा जाता—रतजगा।

उस दिन भी भारतके एक सुखी नगरमे ऐसा ही रतजगा था। वहू डोलेसे उतरी, तो चाँद निकल आया। बडी-बूढियोने कहा—"वहू रूपका लच्छा है।" सासने गर्वसे डूबकर कहा—"गुणोका भण्डार भी है।" ईर्ष्यासे कुढकर जिठानीने कहा—"यह तो रातमे देखा जायगा।" ननदने सभालते हुए कहा—"देख लेना फिर रातमे ही।"

रतजगा प्रारम्भ हुआ। १०-११ बजे राततक लडकियाँ नाची और तब बहुएँ मैदानमे आई। समारोह जब पूरी गर्मीपर आ गया, तो सासने कहा—"बहू, अब तू उठ मेरी चाँद!"

गर्वीली बहूने उपेक्षासे कहा—"इन छोकरियोमे मै क्या नाचूँ माँ, किसीका नाच बढिया लगे, तो मेरे दिलमे भी उमग आये।"

बहूओने इसमे अपने लिए व्यग पाया और उनके तालमे ठसक, भ्रू-भगियोमें कसककी लहरे और अग-विन्यासमे थिरक और लचक गति-शील हो उठी। इस गतिमे नई बहूके चैलेजकी स्वीकृति भी थी और अपनी ओरसे चैलेज भी था।

कोई तीन बजे नई दुलहन नाचनेको उठी। सबके दिल धडक उठे और साँसोकी चाल धीमी पड गई। बहूने अब अपना आँचल सँवारा, अब लहगेके शल सीधे किये, अब ढोलककी कसाई देखी और अब बैठी बहुओको आगे पीछेकर जगह ठीक की और लो वह आगई नाचकी मुद्रामे, पर यह क्या कि वह फिर ठहर गई और आँखें फाड-फाडकर आँगनको देखने लगी। और अब सबने आँखे फाड-फाडकर देखा—मुँहपर विरागका भाव लिये वह बैठ गई है और पैरोंसे घुंघरू खोल रही है।

आश्चर्यसे सासने पूछा—"ऐ, क्या है बहू?"

"मै नही नाच सकती यहाँ!" बहूने नाक सिकोडकर कहा, तो और भी आश्चर्यमे सासने पूछा—"क्यो, क्या बात है मेरी चाँद?"

"इस मकानका आँगन जरा टेढा है, और नृत्यका भाव-विकास एक दम चौकोर स्थलमे ही हो सकता है।" एक दार्शनिककी तरह गम्भीर होकर बहूने कहा और घुंघरू खोलकर उसने जरा दूर सरका दिये।

बडी बूढियोके भयने बहुएँ कुछ कह न पाई। फिर भी उनके हृदयका विद्रोह जिस गागरमे सागरकी तरह लहरा उठा, वह आज भी लोकोक्ति-

मे अमर है कि 'नाच न जाने आँगन टेढा।' जब कोई अपनी कमीको दूस-रोंके सिर मढ़कर पल्ला बचाना चाहता है, तो यह सूक्ति व्यंगका बाण बनकर चोट करती है।

कहिए, ठीक है न मेरी बात कि दक्षेश्वर महादेवके मन्दिरमें खडे बरगदके पेडसे पुरानी होकर भी यह बात आज भी वैसी ही ताजी है, जैसी कि उस दिन थी कि जब अपमानित बहुओंकी हुंकार उस नई बहूपर बरस पडी थी?

एक और बात बडी अजीब है कि पुरानी पडकर हर चीज कमजोर हो जाती है, पर लोकोक्तियोंकी यह विशेपता है कि ज्यो-ज्यो वे घिसती है उनका भाव और पैनापन बढ़ता है। 'नाच न जाने आँगन टेढा' इस लोकोक्तिपर ही जब मैं विचार करता हूँ, तो मुझे लगता है कि इसमें जीवन-शास्त्रका एक पूरा अध्याय अब समा गया है।

"ओहो, इसमे जीवनशास्त्रका एक पूरा अध्याय भी समा गया इतनी देरमे। तुम्हें भी लन्तरानियाँ छौंकनेकी आदत हो गई है कुछ!"

भाई साहब, मुझे लन्तरानियाँ छौंकनेकी आदत पड गई है, तो कोई बुरी बात नही, क्योंकि भोजन है, जीवनका प्राण और भोजनका प्राण है छौंक। पुराने लोग कह गये है कि छौंक आधा चौका है। फिर बातोंका छौंक तो एक कला है। बीरबल न इंजीनियर था, न कवि, फिर भी अकबर बादशाहकी मूँछका बाल बना रहा, सिर्फ बातमें छौंककी कलाके कारण। आप मेरी इस कलाको यो ही उडाना चाहते है कि दे ढील और वो काटा? कान खोलकर सुन लीजिए, मैं पूरी ताकतके साथ एक बार फिर दोहराना चाहता हूँ कि इस कहावतमें जीवन-शास्त्रका एक पूरा अध्याय छिपा है, पर मुसीबत तो यह है कि लोग नाचना तो जानते नही और आँगनको टेढा बताते है।

# दुनिया दुखोंका घर है !

मुझे अपने एक बचपनके साथीकी याद आ रही है। हम दोनो एक संस्कृत पाठशालाके विद्यार्थी थे और उस साल प्रथमा परीक्षा दे रहे थे। सारी पाठशालामे सबसे खराब लिखाई मेरे इस साथीकी थी, पर वह इसे अपनी कमी नही मानता था। वह कहा करता था कि मुझे अभीतक अच्छा-सा पेन नही मिला और तुम लोगोको मिल गया है, इसलिए तुम ज़रा अच्छा लिख पाते हो। मुझे भी जिसदिन मनपसन्द पेन मिल जायगा, बस मै भी कागज़पर मोती टाँकने लगूंगा। सचमुच यही उसका विश्वास था !

परीक्षाका एक सप्ताह रह गया, पर उसे कोई मन-पसन्द पेन न मिला। नतीजा यह कि वह कागज़पर मोती टाँकनेमे कामयाब नही हुआ और मकौडे ही मारता रहा। अब वह परेशान था कि क्या करें। अचानक उसने एक नया आविष्कार किया और यह सूची बनाई कि पाठशालामे कौन-कौन विद्यार्थी बहुत सुन्दर लिखता है। सूची बनते ही उसने नया कदम उठाया और उन सबके निब चुराकर एक छोटी-सी डिबियामें बन्द कर लिये। बुद्धिका बदहाजमा देखिए कि आपने उनसे एक बार भी लिखकर नही देखा और मान लिया कि कापीके कागजोपर अब मै अजन्ता और इलोराकी तस्वीरें उतार दूंगा।

परीक्षाके दिन बडे आरामके साथ उन्होने इस डिबियाका एक निब अपने पेनमे लगाया और कापीके टायटिलपर लिखा—नम. शिवाय। पूरे उत्साहसे आपने कापी उठाकर अपनी चूंधी चिपचिपाई आँखोसे देखा तो दिल धडक उठा—ऐं, ये तो वे ही मकोडे और मक्कड़ है, इनमें शिवजीके ललाटपर दमदमाते चन्द्रमाकी चाँदनीका तो नाम नही, हाँ उनके भुजग और भभूतके भूत ज़रूर नाच रहे है।

बेचारोने बडी मुश्किलसे अपनी खोपडीमें सोचनेकी शक्तिको जगाया और दोनो हाथ साधकर बायें अगूठेके नाखूनपर निबको इस तरह चटकाया

जैसे गाँवकी फूहड सखियाँ अपने मैकेमे नेफेसे नोची जूँको पकडकर चटका देती हैं, पर कोई फल न मिला। अक्ल काम ही न करती थी कि क्या वात हैं। जरा ठहरकर आपने अपनी दुपल्ली टोपीसे निवको पोछा और नया डोवा भरा, पर कोई काम न चला। निराशामे आदमी रो पडता है या फुंकारता है। आप फुंकार उठे और आपने डैक्समें मारकर निवका नामोनिशान ही मिटा डाला। इस तरह तीन दिनमे मेरे साथीने लगभग १५ निवोका वलिदान किया और फर्स्ट डिवीजनमे फेल हो गये।

यही भूल आपकी है भाई साहव, नाच आप जानते नही, न जानना मानते भी नही और ऑगनको टेढा वतलाते हैं, पर मैं इसके लिए आपको कोई दोप नही दे सकता, क्योकि इस दुनियाके ९९ फी सदी आदमियोका यही हाल है। जिसे देखिए दुखोका मर्सिया पढते नजर आता है, जैसे यह दुनिया दुखोका ही एक अजायवघर हो। फिर कोई दुखी है, तो उससे यह भी पूछना पडता है कि भाई, तू क्यो दुखी है ? इसके जवावमे इस किनारेसे दुनियाके उस किनारे तक कोई यह नही कहता कि मैने भूल की, ठीक नही चला और इसलिए दुखी हूँ। अपने वारेमे हरेककी राय १०० फी सदी ठीक है। कोई कुटुम्ववालोका नाम लेता है, कोई मित्रसाथियोका और किसीको इनमेसे कोई हाथ न आये तो सवके दोपोका जिम्मेदार भाग्य तो है ही। अव यह भाग्य कोई चीज है या नही, इस वहसमे मैं नही पडता, पर सोचता हूँ कि वह वेचारा गूंगा है और वोल सकता, तो अपने इन लाड-लोमेसे वहुतोकी सात पीढियाँ ,वखान मारता।

मेरे पडोसमे दो भाई है। गरीव माँ-वापके वेटे और मामूली पढे हुए। एकने मुहल्लेमे मामूली पानकी दुकान कर ली और आज वायलके कुरतेमे सोनेके वटन लगाये वैठता है। दूसरा लखपति होनेके चक्करपर चढ गया और नकली रुपया वनानेके मिलसिलेमे जेल काटकर आया है। रात-

दिन भाग्यको कोसता है और गुनगुनाया करता है—

"मेरा तजरुवा है कि इस ज़िन्दगीमे, परेशानियाँ ही परेशानियाँ है।"

उस दिन वातो ही वातोमें वोला—"अजी वावूजी, भगवान्‌की यही मर्जी थी कि मै वर्वाद हो जाऊँ, सो हो गया।" मै सोचने लगा कि यह भगवान् कौन है, कैसा है कि लोगोको वर्वाद करनेके गुलटप्पे मारता रहता है।

भगवान्‌के वारेमे भी एक अजीव मसखरी है। एक साँसमे लोग कहते है, वह दयालु है, सर्वशक्तिमान् है, न्यायकारी है और उसीने यह दुनिया वनाई है और उसी साँसमे कहते है कि यह दुनिया दुखोका घर है, परेशानियोका अड्डा है। यही नही कि यह वात अनपढ कहते हो या नासमझ, जी नही, वे कहते है यह वात जो धर्म-कर्मके ठेकेदार माने जाते है और इतनी पुस्तके रटे फिरते है कि मामूली गधेपर लाद दो, तो वेचारेकी कमर तीरकमान वन जाये।

अव पूछे कोई इन भले आदमियोसे कि भाई, जो ईश्वर दयालु और सर्वशक्तिमान् है, वह दुखोका घर क्यो घडेगा ? भला जो इजीनियर हो सकता हो, उसका सिर फिरा है कि वह आलू-छोले वेचता फिरे? दुनिया सुखोका भडार है यह एक ऐसा उपवन है, जिसमे खुशियोंके फूल खिले है। हाँ, इसमें काँटोकी वाढ भी है। अगर कोई उन फूलोकी तरफ तो देखे नही और काँटोमें उलझता फिरे, तो इसमे भगवान क्या करे ?

वात वही है कि कम्वख्त नाचना जानते नही और आँगनको टेढा वताते है। अव वताओ तुम कि इस कहावतमें जीवन-शास्त्रका एक अध्याय भरा हुआ है या नही ? अरे साहव, तुम सोचनेकी मुद्रामें गुम क्यो हुए जा रहे हो ? मान लो, हाँ साहव, वस मान ही लो कि आज हमने तुम्हे कामकी एक वात वता दी है। जानता हूँ कि तुम कजूस हो और धन्यवाद नही दोगे, पर कोई फिक्र नही, हम भी उन दूकानदारोमे है, जो सौदा देकर दाम लेना भूल जाया करते है।

———

# बल-बहादुरी : एक चिन्तन

बलमे पुरुषत्वका निवास है और सहृदयतामे देवत्वका। बलके अभावमे परिलक्षित होता है क्लीवत्वका दयनीय दर्शन और सहृदयताकी शून्यतामे ताण्डव करती है, पाप पुज-प्रोज्वालित पैशाचिकता।

क्लीवत्व भयका पिता है और उसकी सहचरी है दीनता, पर पैशाचिकताकी सखी है क्रूरता और वह अज्ञानके पुत्र अहकारका पोषण करती है।

पुरुषत्व अभयका जनक है और देवत्व शान्तिका। अभय और शान्तिका यह सुन्दर सम्मेलन ही मानवताके विकासकी पुण्य-भूमि है।

रावण भी बली था और राम भी, कृष्णमे भी बलका अधिष्ठान था और कसमे भी, पर एककी आज जयन्ती मनाई जाती है और दूसरेका स्मरण हमारे हृदयोमे घृणाके उद्रेकका कारण होता है।

बात क्या है?

एकने अपने बलका उपयोग किया जनताके अधिकारोकी रक्षामे और दूसरेने उनके अपहरणमे, एकके बलका पथ-प्रदर्शक था प्रेम और दूसरेका स्वार्थ, बस दोनोका यही अन्तर है। इसका अर्थ यह हुआ कि सबलके बलका सदुपयोग ही उसके साफल्यकी एकमात्र कुजी है।

बल एक है, पर उपयोगके साँचेमे ढलकर हम उसे दो रूपोमे देखते है। आत्माका सस्पर्श उसे वीरताके पवित्र एव स्पृहणीय नामसे उद्घोषित करता है और देहका क्रूरताके जघन्य एव घृणित नामसे।

दूसरे शब्दोमे विवेकका साहचर्य उसे स्वर्गकी सीमामे ले जाता है और अविवेकका नरककी।

सामान्यत बल अन्धा है और उसकी गति पथ-प्रदर्शकके आधीन है।

राष्ट्र एव जातियोके गौरवकी स्थिति पूर्णत कोकिलके शिशुओ जैसी

है। उसका जन्म होता है, शक्तिकी कल्याणमयी गोदमें, पर वह पलता है प्रेमके पवित्र पालनेमें। वल उसकी नसोमें अभिमान एव कर्मण्यताके रक्तका सचार करता है और प्रेम उसे त्यागका अमृत पिलाकर अमर करनेका प्रयत्न। वल एव प्रेमका यह सात्त्विक सहयोग ही राष्ट्रोंके निर्माणकी मूल-शिला और इन दोनोका पारस्परिक विरोध ही विश्वके विशाल राष्ट्रो एव जातियोंके खण्डहरोका सच्चा एव हृदयवेधी इतिहास है।

वल आकर्षणका केन्द्र है। वलका उपयुक्त प्रदर्शन अपनो और विगानो, सभीको अपनी ओर आर्कापित करता है—सवलको सभी मुग्ध-दृष्टिसे देखते हैं, प्रेम और श्रद्धाका स्नेहोपहार उसके चरणोमे समर्पित कर सभी अपनेको धन्य समझते है, पर वीर अपने प्रतिद्वन्दी वीरके एक प्रशसा वाक्यको जन-साधारणके अतिशयोक्तिपूर्ण अनेक भापणोंसे अधिक महत्त्व देता है। वास्तवमें एक कवि ही दूसरे कविकी सच्ची प्रशसा करनेका अधिकारी है और एक वीर ही दूसरे वीरका सच्चा सम्मान कर सकता है।

इतिहास-रत्न जयमल और वीर-शिरोमणि फत्ताका हम कितना ही गुण-गान करें, पर उनका सच्चा सम्मान तो मुगल-सम्राट् वीर अकवर ही कर सका था।

झाँसीकी वीर महारानी लक्ष्मीवाईके सम्मानमें हम कितने ही काव्योका निर्माण क्यो न करें, उस देवीका वास्तविक सम्मान व्रिटिश सेनाके वीर सेनापति ह्यूरोजके वे शब्द है, जो आज भी इतिहासके स्वर्ण-पृष्ठोमे अपनी दिव्य-प्रकाश-मालाके साथ जगमगा रहे है।

वल और वुद्धिका वही सम्वन्ध है जो देह और आँखका। वुद्धि-कौशलके विना वलका कुछ अर्थ नही और वलके अभावमे वुद्धि-कौशल पगु है।

राजपूतोमे बल था, ऐसा बल, विश्व-इतिहासके पृष्ठोमे जिसकी कोई उपमा नही, पर पराजयके अतिरिक्त उन्हे क्या मिला ?

वे जहाँ लडे सिंहकी भाँति लडे। शत्रु और मित्र सभीने खुले दिल उनके शौर्यकी प्रशसा की, पर इससे क्या ?

कल्पनाके मोदक हमे कुछ कालके लिए आनन्दके मधुर आवेशमें भले ही भुला दे, पर हमारी क्षुधाकी शान्ति नही कर सकते।

शाहजहाँका उत्तराधिकारी दारा, ६० हजारसे भी अधिक बलराशिका स्वामी था और उसका छोटा भाई औरगजेव इससे आधीसे भी कम, पर बुद्धि-कौशलके अभावमे एकका अन्त इतना दयनीय है कि पत्थर भी पसीज उठे और दूसरा इसीके सहारे साम्राज्यका अधीश्वर बन बैठा !

बलके साथ बुद्धिका एकत्र सयोग सौभाग्य श्रीका पुनीत वरदान है। जिस मनुष्य, जाति या राष्ट्रको महामायाका यह वरदान प्राप्त है, सफलता उसके सामने हाथ बाँधे खडी रहनेमे अपने जीवनकी चरितार्थता मानती है और विजय उसकी आँखके एक सूक्ष्म सकेतपर नाचनेमे अपना गौरव अनुभव करती है।

यह सयोग सत्त्वाश्रित होनेपर सौन्दर्य एव प्रेमके सम्मिलन-सा मनोहर, प्रकृति एव पुरुपके सम्मिलन-सा पुनीत और काव्य एव सगीतके सम्मिलन-सा अजेय हो उठता है।

बलकी चरम सीमा कहाँ है ?

शत्रुदल-गजनमे, केशरीके साथ खेल खेलनेमे या फिर देश और धर्मके लिए हँसते-हँसते अपने प्राणोकी आहुति देनेमे ?

नही, बलकी चरम सीमा वीरकी उस अविचल-मुसकानमे है, जो चारो ओर पराजय और पराभवका वातावरण उपस्थित होनेपर भी उसके

अरुण-अधर-मण्डल पर अपनी पुण्य-पुनीत प्रकाशमालाके साथ थिरका करती है।

बर्बरताके राक्षसी ताण्डवके बीच चुनी जानेवाली दीवारमे आकण्ठ निमग्न गुरु गोविन्दसिंहके आत्मज सरल शिशुओंके अधर मण्डलपर विकसित होनेवाली अविचल स्मित रेखा, पर कौन सहृदय है; जो नेपोलियन और गैरीबाल्डी, राणाप्रताप और शिवाजी ही नही, विश्वकी समस्त वीरताका सार न्यौछावर करनेमें हिचकेगा ?

विश्वके इतिहास-उपवनमे वीरता-वल्लरीके उदाहरण-सुमनोकी कमी नही। एकसे एक सुरभित एव एकसे एक सुन्दर, पर उनमें सर्वोत्कृष्ट एव दिव्यके नामसे उद्घोषित सुमनोका विकास विजय-वैभवकी वरेण्य-वैजयन्तीकी ऊँची फहरानके पार्श्व देशमे नही हुआ, पराजयकी पुण्य-पराग-माला ही उनका प्रसूतिगृह है।

पश्चिम शरीर बलका उपासक है और भारत आत्मबलका। अपने-अपने क्षेत्र और समयमे दोनो ही बल खूब फले-फूले और विकासकी चरम सीमातक पहुँचे। प्राचीनतम अतीतके अनन्तर भी बुद्धके रूपमे भारतने एक बार फिर अपने पक्षकी उज्ज्वलता घोषित की, पर अभी विश्वके विशाल प्रागणमे उसके पक्षकी सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित होनी अवशिष्ट थी कि प्रकृतिने गान्धीकी महासृष्टि की, जो युद्धकी पाशविकताको अहिंसाके साथ सफलतापूर्वक जोड एक सास्कृतिक अनुष्ठानका रूप दे सका और यो भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें एक नया अध्याय जोड़नेमें सफल हुआ।



# पुण्य पर्वतकी उस पिकनिकमें

कामसे थक जाऊँ या मानवके अमानवीय व्यवहारसे ऊब उठूं, तो ताजगीके लिए दौडकर प्रकृतिकी गोदमे जा पहुँचता हूँ। समय कम हो, तो खेतपर और ज्यादा हो, तो पर्वतकी गोदमे।

मुझे लगता है कि ये पर्वत ही हमारी सस्कृतिके प्रसूति-गृह है और यो मै उनके वातावरणमे पहुँच, एक आध्यात्मिक आँचलकी छायाका स्पर्श पा पुलकित हो उठता हूँ। फिर जहाँ पुलक है, वहाँ थकान कहाँ, अवसाद कहाँ, निराशा कहाँ ?

यह है एक हिल-स्टेशन—पर्वतीय नगर, जिसमे मै ठहरा हूँ। घूमता हूँ, देखता हूँ, सोचता हूँ, लिखता हूँ, बस यही मेरी पिकनिक है। कमरेकी पिछली खिडकीसे झाँका, तो दिखाई दिया—दूर, एक साफ-समतल मैदान, जिसके चारो तरफ देवदारुके वृक्ष ही वृक्ष। सोचा, वहाँ बैठकर कुछ लिखा जाय, तो बडा मजा रहे और बस आई फुरैरी, तो चल पडा।

घरके पासकी छोटी सडक और उससे उतरती पगडण्डी। चला जा रहा हूँ रपटता-झपटता उदकता-कुदकता और यह लो मै हूँ उस मैदानमे। शान्त एकान्त वातावरण सचमुच कुटिया बनाने लायक स्थान है।

कुटिया आज निरादृत है और कोठी समादृत, पर कुटिया है सस्कृतिका केन्द्र और कोठी सभ्यताका। कुटियामे हम उपार्जन करते है और कोठीमे व्यय, पर कुटिया देशकी दुर्गतिके दिनोमे अभावका प्रतीक बन गई, त्यागका मन्दिर न रही और यो हम सास्कृतिक दिवालिया हो गये।

कुटिया और कोठीके विचार-चक्रपर जाने कबतक घूमता रहा, पर सूरज ढला, तो मै चला। मस्तिष्कमे विचार अब भी है, पर बढा जा रहा हूँ। बढा क्या जा रहा हूँ, चढा आ रहा हूँ घरकी ओर, पर यह क्या कि पसीना

आ रहा है और यात्रा बोझिल है। हरेक कदम पहलेसे भारी हुआ जा रहा है, बात क्या है यह?

ओह, यह स्थान खड्डमें है और अब मुझे चढाई चढनी पड रही है। तो चढ रहा हूँ, थक रहा हूँ और सोच रहा हूँ—गिरना आसान है, उठना कठिन है। गिरनेमे सरलता है, देखती आँखोमे सरसता भी है, पर उठने-मे श्रम है, साधना है।

तभी एक प्रश्न पटबीजना-सा भीतर चमक उठा—क्या ऊपर उठनेके श्रममे, साधनामें, मिठास, रस और आनन्द नही है? वह रुखी-सूखी ही चीज़ है? शायद हो, पर अपने जीवनकी चौथाई शताब्दीसे भी अधिक लम्बी साधनामे मुझे तो कही रुखापन नही मिला, फिर भला मैं कैसे कहूँ कि साधना एक रुखी चीज है? सिद्धि समाप्ति है, लीनता है, पर साधना तो मधुर ही मधुर है।

ठीक है, पर मुझे ऊपर जानेमे यह आनन्द क्यो नही मिल रहा है? प्रश्न तो अपना ठीक है, ठीक जगह है, पर ना ठीक लगता है, ठीक कहाँ है? साधनाकी आत्मा है स्वेच्छा और मेरे इस ऊपर जानेमे स्वेच्छा नही, मजबूरी है—अनजाने यहाँ आ गया, अनचाहे ऊपर जा रहा हूँ, इसमे साधना कहाँ, यह तो बोझ है!

भक्त भगवान्‌की पूजामे लीन हो जाता है, अपूर्व आनन्द उसे मिलता है, पर एक पुजारीजी है। दोपहरको वे ताश जमाते है और शामको जब भगवान्‌की पूजाका तकाज़ा उनपर आता है, तो कभी-कभी कहा करते है—"उठो भाई, पहले पूजाका पाप काट आएँ!"

मैं भी ऊपर चढ रहा हूँ, पर चढाईका पाप ही तो काट रहा हूँ। फिर आनन्द कैसे मिले?

× × ×

पगडण्डीसे चढा चला आ रहा था कि ध्यान आ गया इस पगडण्डीमे कितने मोड है ? कितने क्या, मोड ही मोड है, जैसे यह राह न होकर कोई चक्कर हो!

तभी जैसे भीतर किसीने कहा—जीवनमें भी तो मोड है इसी तरह, और अब जैसे जीवन और पथ दोनो मेरे सामने आ गये। मै सोचता रहा—पथमे भी मोड है, जीवनमे भी मोड है।

—"पर क्यो है ये मोड ?" जिज्ञासाने पूछा और विवेकने उत्तर दिया—"पथमे मोड न हो, तो पथिक अपनी मजिलतक कैसे पहुँचे और जीवनमे मोड न हो, तो मानव अपना लक्ष्य कैसे पाये, पगले!"

तब ठीक है—मैने सोचा—मोड पथकी भी शक्ति है और जीवनकी भी, पर शक्ति जहाँ शक्ति है, वही एक खतरा भी है कि सदुपयोग हो, तो शक्ति निर्माणका साधन है और दुरुपयोग हो, तो विनाशका मोर्चा।

जीवन या पथके मोड़पर आते ही जहाँ आगे बढनेकी प्रवृत्ति पनपती है, वहाँ भटक जानेकी सम्भावना भी तो! यहाँ दिशाबोध आवश्यक है और यह दिशाबोध ही शक्तिका सदुपयोग है।

× × ×

चढते ही चढते सुना—सामनेकी पहाडियोमे एक साधु रहता है और सर्दियोमे, जब चारो ओर सूनापन छा जाता है, तो कभी-कभी वह दिखाई देता है।

जीवनकी यह कैसी स्थिति है कि न पास कोई अपना आदमी, न सुख-सुविधाका कोई साधन, बस पहाडकी सूनी कदरा और उसमे निवास करता एक मनुष्य, जिसके पास अपनी एक लगोटी भी नही—एकदम अकिंचन!

अकिंचन, तो क्या दयनीय ? मेरी आँखोमे घम रहे है, वे दीन-भिखारी, जिनके पास कुछ भी नही होता—सचमुच दयनीय!

तो क्या साधु और भिखारी, दोनो एक ही चीज है ? लगता तो यही है कि एक ही चीज़ है—उसके पास भी कुछ नही और इसके पास भी कुछ नहीं, पर देख रहा हूँ अन्तर्वासी इसे ले नही पा रहा और उसके विद्रोहकी वाणी सुन रहा हूँ—ना, ये दोनों एक नही है, एकके पास कुछ नही है और वह टुकडोके लिए दर-दर भटकता है, पर एकके पास कुछ नही है, तब भी वह स्वर्गका अधीश्वर है।

डुबकी खाते-खाते मै उभर आया हूँ—हमारी महान् सस्कृतिका यह कैसा चमत्कार है कि मनुष्यकी दीनताकी चरम सीमा है अकिंचनता और उसके उत्कर्षकी चरम सीमा है अकिंचनता। अकिंचनताकी ही छायामे जी रहे है वे लाखो, जो मानव होकर भी नालीके कीडोकी स्थितिमे है और अकिंचनताकी छायामें ही पनपे है—महावीर, बुद्ध और गान्धी।

सोच रहा हूँ—यह दीनता दूर होनी है और यह उत्कर्ष पनपना है और चढा चला आ रहा हूँ।

× × ×

पर्वतमालासे मैने कहा—"तुम कितनी उदार हो कि मेरी जातिके हज़ारो लोगोको अपनी गोदमें लिये रहती हो ? क्या इसमे कष्ट नही होता ?"

पर्वतमालाने कहा—"कष्टकी इसमे क्या बात। तुम देखते नही, आकाशदेव मुझे कितने प्यारसे अपनी गोदमे लिये हुए है ?"

मैने उन्नत आकाशकी ओर देखा। वह विश्वब्रह्माण्डको अपनी गोदमे लिये स्पर्श-सुखकी कोमल अनुभूतिमे लीन था।

× × ×

सन्ध्याका समय, सामनेके ऊँचे पर्वत-शिखरपर काले बादलका एक टुकडा और उसके किनारे डूबते सूर्यकी किरणोके आलोकमे स्वर्णाभा, प्रकृतिकी कारीगरीका यह प्रदर्शन, यह अद्भुत प्रदर्शन !

पर्वत-सुन्दरी गोटेका चूनर ओढे किसीकी प्रतीक्षामे है या तालके समपर छमसे ठुमककर नृत्यकी मुद्रामे स्थिर हो गई है ?

बादलका टुकडा नीचा हो गया है और वह स्वर्णरेखा ठीक शिखरपर आ लगी है। सध्याके झुट-पुटेमे हरित-श्यामल शिखर और शुद्ध स्वर्णकी यह मोटी रेखा। वातावरण शान्त, आँखोमे स्वर्ण-प्रकाश और मन लीन।

क्या पुराण-वर्णित शिव ताण्डवकी यही प्रस्तावना है ?

× × ×

और यह लौट रहा हूँ मै अपने घर—नगर। बसमे एक यात्रीको चक्कर आ गया, तो किसी अनुभवीने कहा—"आप दूर देखिए, पास देखनेसे ज्यादा चक्कर आते है।"

एक सरदारजीको जोरोसे उबकाइयाँ आई, तो दूसरे अनुभवीने कहा—"आप ऊपर देखिए, नीचे देखनेसे ज्यादा चक्कर आते है।"

मैने दोनो अनुभवोको मिलाकर सोचा—ठीक है, जीवनकी यात्रामे जो लोग नीचेकी ओर देखते है—विचारोके नीचे धरातलपर आँख रखते है और जो लोग पास ही देखते है, सकीर्ण-दृष्टिका शिकार हो जाते है, उन्हे ऐसे चक्कर आते है कि वे यात्राका कुछ भी आनन्द नही ले पाते।

और अब मै फिर अपने नगरमे था—इस युगमे यात्रा कितनी सुगम हो गई है ?